बाल सत्यार्थप्रकाश

आर्यकुमारों व कुमारियों
के लिए सत्यार्थप्रकाश
का सरल और सुबोध
संक्षिप्त संस्करण



ओ३म्

बाल सत्यार्थप्रकाश

लेखक

प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार

वेदोपाध्याय, गुरुकुल कांगड़ी

हरिद्वार



राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य : एक रुपया पचास पैसे

प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली

मुद्रक : भण्डारी प्रिंटिंग प्रेस, शाहदरा, दिल्ली-३२

BAL SATYARTHPRAKASH by Vishwanath Vidyalankar
Ethics
Re. 1·50

भूमिका

उन्नीसवीं सदी में भारतवर्ष कुरीतियों का शिकार था और मिथ्या ज्ञान तथा मिथ्या कल्पनाओं के गाढ़े अन्धकार से आच्छादित था। महर्षि दयानन्द की कृपा से भारत पर सत्यार्थप्रकाश का प्रचण्ड मार्तण्ड चमका। सत्यार्थप्रकाश सत्य का महास्रोत है, बहुमूल्य विचार-रत्नों का रत्नाकर है और तर्क का अक्षय भंडार है। परन्तु दुःख यह है कि सत्यार्थप्रकाश का जितना स्वाध्याय होना चाहिए था, उतना अभी तक हुआ नहीं। युवावस्था और वृद्धावस्था के लोग सच्चाई के इतने भिखारी नहीं होते जितने कि बालक हुआ करते हैं। बालकों के नरम मस्तिष्कों पर सत्यार्थप्रकाश का यदि प्रभाव पड़ सके तो भारत के महा-रोग की निवृत्ति की शीघ्र सम्भावना हो सकती है। आजकल बालकों को सत्यार्थप्रकाश के उज्ज्वल प्रकाश में लाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। परन्तु अभी तक सत्यार्थप्रकाश का कोई ऐसा समुचित लघु रूप प्रकाशित नहीं हुआ जो सत्यार्थप्रकाश के सिद्धान्तों को स्पष्ट तथा संक्षेप में बालकों के सम्मुख उपस्थित कर सके। मैंने इस लघु रूप द्वारा यत्न किया है कि सत्यार्थप्रकाश का बालोपयोगी अंश बालकों के सामने उपस्थित कर सकूं। बालकों के लिए दस समुल्लासों को ही अधिक उपयोगी जानकर मैंने उन्हीं दस समुल्लासों का संक्षेप किया है, शेष चार समुल्लासों का नहीं। साथ ही अन्त में ऋषि के 'स्वमन्तव्या-मन्तव्यप्रकाश' तथा आर्यसमाज के नियमों को भी स्थान दे दिया है ताकि बालक इन्हें भी स्मरण कर लें। मुझे विश्वास है कि आर्यपाठशालाएं इस 'बाल सत्यार्थप्रकाश' को अपनाकर लेखक के परिश्रम को सफल बनाएंगी।

—विश्वनाथ विद्यालंकार

विषय-सूची

ओ३म्

बाल सत्यार्थप्रकाश

प्रथम समुल्लास

मंगलाचरण

सब शुभ कर्मों के आरम्भ में 'ओ३म्' का स्मरण करना चाहिए। 'ओ३म्'—यह परमात्मा का नाम है। ग्रन्थ के आरम्भ में भी 'ओ३म्' लिखना चाहिए। 'अथ' शब्द भी ग्रन्थ के आरम्भ में प्राचीन ऋषि-मुनि लिखा करते थे। किन्तु आधुनिक ग्रन्थों में 'श्रीगणेशाय नमः' 'सीतारामाभ्यां नमः', 'राधाकृष्णाभ्यां नमः', 'श्री गुरुचरणाभ्यां नमः' इत्यादि वचन ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण के लिए देखने में आते हैं। इनको बुद्धिमान् लोग वेदों और शास्त्रों के विरुद्ध होने के कारण मिथ्या ही समझते हैं। इसलिए 'ओ३म्' या 'अथ' शब्द ग्रन्थ के आदि में लिखना चाहिए।

परमात्मा का निज नाम

'ओ३म्' परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है; क्योंकि इस एक नाम में परमेश्वर के बहुत-से नाम आ जाते हैं। कठोपनिषद्[1] में लिखा है कि "सब वेद जिस प्रापणीय प्रभु का कथन करते हैं तथा जिसकी प्राप्ति की इच्छा से तपस्वी ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हैं, उसका नाम 'ओ३म्' है।" इस प्रकार सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर

---

१. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ अ० १, ब० २, मं० १५।

का प्रधान और निज नाम 'ओ३म्' ही कहा है।

परमात्मा के नामों की संख्या

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में परमात्मा के सौ नाम[1] लिखे हैं। परन्तु उन नामों से भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं; क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव हैं, वैसे ही उसके अनन्त नाम भी हैं। परमात्मा के प्रत्येक गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से उसका एक-एक नाम है। इससे परमात्मा के सौ नाम समुद्र के सामने बिन्दुवत् हैं, क्योंकि वेदादि शास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण, कर्म, स्वभाव विख्यात हैं।

अग्नि आदि नामों के अर्थों की पहचान

'ओ३म्' और 'अग्नि' आदि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। परन्तु 'ओ३म्' तो केवल परमात्मा ही का नाम है और 'अग्नि' आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियामक हैं। प्रकरण, जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'हे भृत्य, तू सैन्धव ले आ'। तब उसको प्रकरण अर्थात् समय का विचार करना चाहिए। क्योंकि 'सैन्धव' नाम दो पदार्थों का है, घोड़े का और लवण का। जो स्वामी का गमन-समय हो तो घोड़ा, और भोजन-काल हो तो लवण लाना उचित है। जो गमन-समय में लवण और भोजन समय में घोड़ा ले आए तो उसका स्वामी उस पर क्रुद्ध होकर कहेगा कि 'तू मूर्ख पुरुष है, गमन-समय में लवण और भोजन-समय में घोड़े के लाने का क्या प्रयोजन था? तू प्रकरणविद् नहीं है। नहीं तो जिस समय जिसे लाना चाहिए था, उसे ही लाता।' इससे सिद्ध हुआ कि जहां जिसका ग्रहण करना उचित हो वहां उसी अर्थ का ग्रहण करना चाहिए। इसे ही प्रकरण कहते हैं।

---

१. 'परमात्मा के सौ नामों पर विचार' देखो पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट-प्रकरण।

इसी प्रकार जहां-जहां स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना हो, तथा जहां सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हों वहां अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है। और जहां उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का सम्बन्ध हो, तथा जहां अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण लिखे हों, वहां अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है।

इसी प्रकार जहां सर्वज्ञादि विशेषण हों वहां परमात्मा का और जहां इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहां जीव का अर्थ लेना चाहिए।

परमात्मा के नाम सार्थक हैं

परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं। जैसे कि लोक में दरिद्री आदि के धनपति आदि नाम अनर्थक होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा के नाम कहीं उसके गुण, कहीं कर्म और कहीं स्वभाव रूपी अर्थों के वाचक हैं। अतः ओ३म् आदि नाम सब सार्थक हैं। जैसे स्वप्रकाश होने से 'अग्नि', विज्ञानस्वरूप होने से 'मनु', सबका पालन करने और परमैश्वर्यवान् होने से 'इन्दु', सबका जीवन-मूल होने से 'प्राण' और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम 'ब्रह्म' है।

निर्गुण तथा सगुण परमात्मा

रूप, रस, स्पर्श और गंध आदि जड़ के गुणों तथा अविद्या, अल्पज्ञता, राग, द्वेष और क्लेश आदि जीव के गुणों से परमात्मा पृथक् है। परमात्मा जड़ और जीव के इन गुणों से रहित है, इसलिए परमात्मा को निर्गुण कहते हैं। तथा वह सर्वज्ञता, पवित्रता, अनन्त बल, आनन्द आदि गुणों से युक्त है, इसलिए परमेश्वर को सगुण भी कहते हैं। जैसे पृथ्वी गंध आदि गुणों से युक्त होने से सगुण और इच्छा आदि गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण है, वैसे ही जड़ जगत् और चेतन जीव के गुणों से रहित होने के कारण परमेश्वर निर्गुण तथा सर्वज्ञत्वादि अपने गुणों से युक्त होने के कारण वह सगुण है।

संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो सगुण और निर्गुण न हो। जड़ जगत् भी चेतन के गुणों से रहित होने से निर्गुण तथा अपने गुणों से युक्त होने से सगुण है।

इसी प्रकार जीव भी जड़ के गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण तथा अपने गुणों से युक्त होने के कारण सगुण है।

परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना

स्तुति, प्रार्थना और उपासना श्रेष्ठ की ही की जाती है। श्रेष्ठ उसको कहते हैं जो कि गुण, कर्म, स्वभाव और सत्य व्यवहारों में सबसे अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ है, उसको परमेश्वर कहते हैं—जिसके कि तुल्य न कोई हुआ, न है, और न होगा। जब तुल्य नहीं तो उससे अधिक क्यों कर हो सकता है? जैसे परमेश्वर के सत्य, न्याय, दया, सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं, वैसे अन्य किसी जड़ पदार्थ या जीव के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य है उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी सत्य होते हैं। इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि वे परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें; क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वानों ने, दैत्य-दानव आदि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना की, उससे भिन्न की नहीं की। वैसे ही हम सबको करना योग्य है।

तीन बार शान्ति-पाठ

शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः—इस प्रकार तीन बार शान्ति-पाठ का यह प्रयोजन है कि संसार में त्रिविध ताप अर्थात् तीन प्रकार के जो दुःख हैं, उनकी शान्ति अर्थात् निवृत्ति की भावना तीन बार शान्ति-पाठ द्वारा की जाए। वे तीन प्रकार के दुःख निम्नलिखित हैं—

पहला—आध्यात्मिक दुःख

यह आत्मा और शरीर में अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता और ज्वर

आदि के कारण होता है।

दूसरा—आधिभौतिक दुःख

यह शत्रु, व्याघ्र और सर्प आदि से प्राप्त होता है।

तीसरा—आधिदैविक दुःख

यह अतिवृष्टि, अतिशीत, अत्युष्णता तथा मन और इन्द्रियों की अशान्ति के कारण होता है।

द्वितीय समुल्लास

शिक्षा-विषय

तीन गुरु

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद

यह 'शतपथ-ब्राह्मण' का वचन है। वस्तुतः जब तीन शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य, उत्तम होवें, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह सन्तान बड़ी भाग्यवान है जिसके माता और पिता धार्मिक तथा विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है, उतना किसी से नहीं। जितना माता सन्तानों पर प्रेम और उनका हित करना चाहती है, उतना अन्य कोई नहीं करता। पांचवें वर्ष तक बालकों को माता, छठे वर्ष से आठवें तक पिता शिक्षा दिया करें। और नवें वर्ष के आरम्भ में आचार्यकुल में—जहां पूर्ण विद्वान् पुरुष और पूर्ण विदुषी स्त्रियां शिक्षा और विद्यादान करनेवाली हों—अपने लड़के और लड़कियों को माता-पिता भेज दें। उन्हीं की सन्तानें विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होती हैं, जो पढ़ाने में सन्तानों से लाड़ कभी नहीं करते, किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं। जो माता-पिता और आचार्य अपनी सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं वे मानो अपनी सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं। माता-पिता और अध्यापक ईर्ष्या-द्वेष से ताड़न न करें किन्तु ऊपर से भय-प्रदान और भीतर से कृपा-दृष्टि रखें।

बालक के प्रति माता-पिता का कर्त्तव्य

बालकों को माताएं सदा उत्तम शिक्षा दिया करें जिससे सन्तानें सभ्य हों और किसी अंग से कुचेष्टा न करने पाएं। बालक जब कुछ बोलने और समझने लगें, तब उन्हें माता-पिता सुन्दर वाणी बोलने की; बड़े, छोटे, मान्य पिता, माता, राजा, विद्वान् आदि के साथ भाषण करने की तथा उनके साथ बर्ताव करने और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा दें; जिससे उनका कहीं अयोग्य व्यवहार न हो अपितु सर्वत्र ही उनकी प्रतिष्ठा हुआ करे। जिस प्रकार सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करनेवाली हो, तथा जिस प्रकार उसे सदा सत्य-भाषण, शौर्य, धैर्य और प्रसन्नवदनता आदि गुणों की प्राप्ति हो सके, वैसा प्रयत्न माता-पिता करते रहें। तत्पश्चात् बालकों को ऐसे मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य कंठस्थ करावें जिससे कि अच्छी शिक्षा विद्या, धर्म और परमेश्वर के सम्बन्ध में तथा माता-पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, कुटुम्ब, भगिनी और भृत्य आदि से कैसे-कैसे बर्ताव करना चाहिए, इन बातों के सम्बन्ध में उन्हें उपदेश मिल सके।

वीर्यरक्षा तथा अन्य उपदेश

माता-पिता तथा आचार्य को चाहिए कि वे बालकों को समझा दें कि वीर्य की रक्षा में आनन्द है और उसके नाश करने में दुःख। देखो! जिसके शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है, उसके आरोग्य, बुद्धि बल और पराक्रम बढ़ते हैं और उसे बहुत सुख की प्राप्ति होती है। उसके संरक्षण की यही रीति है कि ब्रह्मचारी विषयों की कथा, विषयी लोगों के संग, विषयों के ध्यान, स्त्री-दर्शन, एकान्त-सेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से पृथक् रहे। और इस व्रत का पालन करता हुआ उत्तम शिक्षा तथा पूर्ण विद्या को प्राप्त हो। देखो! जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक और महाकुलक्षणी होता है और जिसे प्रमेह रोग हो जाता है वह दुर्बल, निस्तेज और निर्बुद्धि हो जाता है। साथ ही उत्साह, साहस, धैर्य, बल और पराक्रम आदि गुणों से रहित

होकर नष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार अन्य उत्तम शिक्षाएं भी माता-पिता और आचार्य बालकों को देते रहें, जिससे कि वे प्रतिज्ञा भंग न करें। छल, कपट और कृतघ्नता से दूर रहें। क्रोधादि दोष और कटुवचन छोड़कर शान्त और मधुर वचन ही बोलें, न न्यून और न अधिक बोलें। बड़ों का आदर-सत्कार करें। उनके सामने उठकर, जाकर उन्हें उच्चासन पर बिठाएं। उन्हें प्रथम नमस्ते करें, उनके सामने उत्तमासन पर न बैठें। सभा में ऐसे स्थान पर बैठें जैसी कि अपनी योग्यता हो ताकि कोई उन्हें वहां से उठा न दे। विरोध किसी से न करें। गुणों का ग्रहण करें और दोषों को त्यागें। अपने माता-पिता और आचार्य की तन, मन, और धन आदि अन्य उत्तम पदार्थों द्वारा प्रीतिपूर्वक सेवा करें। जितनी क्षुधा हो उससे कुछ न्यून भोजन करें, तथा मद्य-मांस आदि के सेवन से अलग रहें, इत्यादि।

इसी प्रकार विद्या और धर्म के विरुद्ध, भ्रान्तिजाल में गिराने-वाले जो व्यवहार हैं, उनका भी उपदेश माता-पिता बालकों को कर दें, जिससे कि भूत, प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास उन्हें न हो। यथा—

(क) भूत-प्रेत

मृतक शरीर का नाम 'प्रेत' है। जब उस शरीर का दाह हो चुका तब उसका नाम भूत होता है। अर्थात् वह अमुक नाम का पुरुष था जो कि अब नहीं है। जितने उत्पन्न हुए हों, परन्तु वर्तमान में आकर न रहें, वे भूतस्थ हैं, इससे उनका नाम भूत है। ऐसा ब्रह्मा से लेकर आज तक के विद्वानों का सिद्धान्त है; परन्तु जिसको शंका, कुसंग और कुसंस्कार होता है उसको भय और शंकारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि भ्रमजाल दुःखदायक होते हैं। देखो! जब कोई प्राणी मरता है तब उसका जीव पाप-पुण्य के वश होकर परमेश्वर की व्यवस्था से सुख-दुःख के फल भोगने के अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था का कोई भी नाश कर सकता है?

अज्ञानी लोग विचार से रहित होकर वैदिक शास्त्र व पदार्थ-विद्या के पढ़ने-सुनने और सन्निपात ज्वरादि शारीरिक और उन्मादादि मानसिक रोगों का नाम भूत-प्रेतादि धरते हैं।

(ख) ज्योतिःशास्त्र और जन्मपत्र

क्या ज्योतिःशास्त्र झूठा है और जन्मपत्र निष्फल है ? उत्तर—ज्योतिःशास्त्र में जो अंक, बीज तथा रेखागणित विद्या है वह सब सच्ची है और जो फल की लीला है वह सब झूठ। देखो ! जैसे पृथ्वी जड़ है वैसे ही सूर्यादि लोक भी जड़ हैं। वे ताप प्रकाशादि के देने से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते। क्या ये चेतन हैं जो क्रोधित होकर दुःख और शान्त होकर सुख दे सकें ? संसार में राजा और प्रजा सुखी हो रहे हैं, यह ग्रहों का फल नहीं है, ये सब पाप-पुण्य के फल हैं।

और जो जन्मपत्र हैं, वे जन्मपत्र नहीं, किन्तु उनका नाम शोकपत्र रखना चाहिए। क्योंकि जब सन्तान का जन्म होता है तब सबको आनन्द होता है, परन्तु वह आनन्द तब तक ही होता है जब तक जन्मपत्र न बन जाए और ग्रहों का फल न सुन लिया जाए। माता-पिता यदि धनवान् हों तो बहुत-सी लाल पीली रेखाओं से चित्र-विचित्र और निर्धन हों तो साधारण रीति से जन्मपत्र बनाकर जब पुरोहित सुनाने को आता है तब बालक के मां-बाप ज्योतिषीजी के सामने बैठकर कहते हैं कि 'इसका जन्मपत्र अच्छा तो है ?' ज्योतिषी कहता है—'जो है सो सुनाए देता हूं। इसके जन्म-ग्रह बहुत अच्छे और मित्र-ग्रह भी बहुत अच्छे हैं।' इत्यादि बातें सुनकर पिता आदि बोलते हैं—'वाह-वाह ज्योतिषीजी आप बहुत अच्छे हैं।' ज्योतिषी समझता है कि इन बातों से कार्य सिद्ध न होगा। तब ज्योतिषी बोलता है कि 'ये ग्रह तो बहुत अच्छे हैं, परन्तु ये क्रूर हैं, अर्थात् अमुक ग्रह के योग से ८ वर्ष में इसका मृत्यु-योग है।' यह सुनकर माता-पिता पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़कर शोकसागर में डूब ज्योतिषी से कहते हैं—'महाराजजी ! अब हम क्या करें, क्या उपाय करें ? तब ज्योतिषी प्रस्ताव करने लगते हैं कि 'ऐसा दान करो' ग्रह के मन्त्र का जाप कराओ, नित्य

ब्राह्मणों को भोजन कराओ, तो अनुमान है कि नवग्रहों के विघ्न हट जाएंगे।' 'अनुमान' शब्द इसलिए है कि जो मर जाए तो कहेंगे कि हम क्या करें, परमेश्वर के ऊपर कोई नहीं है, हमने तो बहुत प्रयत्न किया और तुमने कराया, उसके कर्म ही ऐसे थे। और जो बच जाए तो कहते हैं कि देखो! हमारे मन्त्र, देवता और ब्राह्मणों की शक्ति है कि तुम्हारे लड़के को बचा लिया।

यहां यह होना चाहिए कि यदि इनके जाप-पाठ से कुछ न हो तो दुगुने-तिगुने रुपये उन धूर्तों से लेने चाहिए, और जो बच जाए तो भी ले लेने चाहिए। क्योंकि जैसे ज्योतिषियों ने कहा है कि 'इसके कर्म और परमेश्वर के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसी का नहीं' वैसे गृहस्थ भी कहें कि 'यह अपने कर्म और परमेश्वर के नियम से बचा, तुम्हारे करने से नहीं।'

(ग) शीतला और मन्त्र-तन्त्र

अब रह गए शीतला और मन्त्र-तन्त्र आदि। ये भी ऐसे ही ढोंग हैं। कोई कहता है कि 'जो हम मन्त्र पढ़ डोरा व यन्त्र बना देवें तो परमेश्वर, देवता और पीर उस मन्त्र-तन्त्र के प्रताप से कोई विघ्न नहीं होने देते।' उनको यही उत्तर देना चाहिए कि क्या तुम मृत्यु, परमेश्वर के नियम और फल से बचा सकोगे? तुम्हारे इस प्रकार करने से भी कितने ही लड़के मर जाते हैं और तुम्हारे घर में भी मर जाते हैं, और तुम क्या मृत्यु से बच सकोगे? तब वे कुछ भी नहीं कह सकते और धूर्त जान लेते हैं कि यहां हमारी दाल नहीं गलेगी।

तृतीय समुल्लास

अध्ययनाध्यापन विधि

सच्चे आभूषण

सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभावरूप

आभूषणों को धारण कराना माता-पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्त्तव्य है। सोना, चांदी, माणिक, मोती मूंगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण कराने से मनुष्य की आत्मा भूषित कभी नहीं हो सकती। क्योंकि आभूषणों के धारण करने से देहाभिमान और विषयासक्ति होती है, तथा उससे चोर आदि के भय की तथा मृत्यु की संभावना है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के लोभ से बालिकादिकों की मृत्यु दुष्टों के हाथों होती रहती है।

गुरुकुल-शिक्षा

पुत्र और पुत्रियां जब आठ वर्ष की हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में माता-पिता भेज देवें। जो अध्यापक—पुरुष व स्त्री—दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलाएं। किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त और धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। माता-पिता अपने लड़कों और कन्याओं को आचार्य-कुल अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें। विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिए। लड़कों तथा लड़कियों की पाठशालाएं दो कोस एक-दूसरे से दूर होनी चाहिए। अध्यापक, भृत्य तथा अनुचर कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्रियां और पुरुषों की पाठशाला में सब पुरुष रहें। पाठशालाओं में एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम व नगर रहें। सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान और आसन दिए जाएं—चाहे वह राजकुमार या राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र की सन्तान हो। सबको तपस्वी होना चाहिए। जब भ्रमण करने को जाएं तब उनके साथ अध्यापक रहें, जिससे वे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस-प्रमाद करें। ब्रह्मचारी जब तक गुरुकुल में रहें तब तक अध्यापकों को माता-पिता के समान समझें और अध्यापक अपनी सन्तानों के समान शिष्यों को समझें। राजनियम और जाति-नियम होने चाहिए कि पांचवें और आठवें वर्ष से आगे कोई भी मां-बाप अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख पाठशाला में

अवश्य भेज देवें। जो न भेजे वह दण्डनीय हो।

शिक्षा सबको बाधित रूप से प्राप्त करनी चाहिए

राजा—क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्रजनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य कराए। क्योंकि ब्राह्मण ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती। ब्राह्मण आजीविका में क्षत्रिय आदि के अधीन हैं और क्षत्रियादि के आज्ञादाता भी हैं। यदि ब्राह्मण ही पढ़ें अन्य नहीं तो उनके यथावत् परीक्षक और दण्डदाता कौन होंगे? इस प्रकार ब्राह्मण आदि सब वर्ण पाखण्ड ही में फंस जाएंगे। और जब क्षत्रिय आदि विद्वान् होते हैं तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास करते और धर्मपथ में चलते हैं और उन क्षत्रिय आदि विद्वानों के सामने पाखण्ड तथा झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते। और जो क्षत्रिय आदि अविद्वान् होते हैं तो वे जैसा अपने मन में आता है वैसा ही करते-कराते हैं। इसलिए ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें तो क्षत्रिय आदि को वेदादि सत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से कराएं क्योंकि क्षत्रिय आदि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करने वाले हैं। वे कभी भिक्षावृत्ति नहीं करते, इसलिए वे विद्याव्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते और जब सब वर्णों मे विद्या तथा सुशिक्षा होती है तब कोई भी पाखण्डरूप अधर्मयुक्त मिथ्या व्यवहार को नहीं चला सकता। इससे सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलानेवाले ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलानेवाले क्षत्रियादि होते हैं। इसलिये सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिए। राजा को योग्य है कि वह सब कन्याओं और लड़कों को ब्रह्मचर्य में रखकर उन्हें विद्वान् बनाए। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता-पिता को दण्ड दे; अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का व लड़की किसी के घर में ठहरने न पावें, किन्तु आचार्य-कुल में ही रहें। तथा जब तक समावर्तन का समय न आवे तब तक उनका विवाह न होने पाए, ऐसा प्रबन्ध राजा करे।

क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें ?

सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्य-मात्र को वेद पढ़ने का अधिकार है। सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र के पढ़ने, सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय का दूसरा मन्त्र है, जो कि निम्नलिखित है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय, स्वाय च चारणाय ॥

इस मन्त्र में परमेश्वर ने कहा है कि जैसे मैं सब मनुष्यों के लिए इस कल्याणमयी अर्थात् संसार और मुक्ति का सुख देनेहारी ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का उपदेश करता हूं, वैसे तुम भी किया करो। मैंने ब्राह्मण, क्षत्रिय (ब्रह्मराजन्याभ्याम्), वैश्य (अर्याय), शूद्र (शूद्राय) और भृत्य व स्त्री आदि (स्वाय) अतिशूद्र आदि (अरणाय) के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है। इससे प्रतीत होता है कि परमात्मा की दृष्टि में मनुष्य-मात्र को वेद पढ़ने का अधिकार है। क्या परमेश्वर स्त्री और शूद्र का भला नहीं करना चाहता ? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का स्त्री और शूद्र के लिए निषेध और शेष के लिए विधान करे ? जैसे परमात्मा ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाए हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किए हैं। और जहां कहीं निषेध किया है उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आए वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है। स्त्रियों के पढ़ने के सम्बन्ध में वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण है। यथा—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्व० ११।१३।१८॥

अर्थात् जैसे लड़के 'ब्रह्मचर्य-सेवन से पूर्णविद्या और सुशिक्षा को प्राप्त युवती, विदुषी, अपने अनुकूल, प्रिय और सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे कुमारियां भी ब्रह्मचर्य-सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर, पूर्णविद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त करके और युवती होकर

पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय, विद्वान्, पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को प्राप्त हों।

इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए।

तथा देखो श्रौत सूत्र में लिखा है कि—

इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्

अर्थात् यज्ञ में स्त्री इस मन्त्र को पढ़े। यदि स्त्री वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी हो, तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृत सम्भाषण कैसे कर सकेगी? भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़कर पूर्ण विदुषी हुई थीं—यह शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है। देखो आर्यावर्त के राजपुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं। क्योंकि जो न जानती होतीं तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकतीं और युद्ध कर सकतीं?

ब्राह्मण-स्त्री और क्षत्रिय-स्त्री को सब विद्या, वैश्य-स्त्री को व्यवहार-विद्या और शूद्रों को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए। स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित और शिल्प विद्या तो अवश्य सीखनी चाहिए।

पढ़ने-पढ़ाने में विघ्न

कुसंग अर्थात् दुष्टविषयी जनों का संग, दुष्ट-व्यसन जैसे मद आदि सेवन, बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् पचीसवें वर्ष से पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना, ब्रह्मचर्य का न होना, अति भोजन, अति जागरण, पढ़ने-पढ़ाने व परीक्षा लेने-देने में आलस्य व कपट करना, विद्या का लाभ न समझना आदि विघ्न पढ़ने-पढ़ाने में होते हैं। अतः राजा और प्रजा इन विघ्नों को दूर करके अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिए तन, मन, धन से प्रयत्न किया करें।

ब्रह्मचर्य के तीन प्रकार

ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। इनमें से कनिष्ठ ब्रह्मचर्य यह है कि पुरुष अर्थात् देह और शरीर में शयन करने वाला जीवात्मा शुभ गुणों से संगत रहे। उसे आवश्यक है कि चौबीस वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा को ग्रहण करे और विवाह करके भी लम्पटता न करे तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभ गुणों के वास कराने वाले होते हैं। इसे वसु ब्रह्मचारी कहते हैं। इसकी आयु भी सत्तर अस्सी वर्ष तक रहेगी।

मध्यम ब्रह्मचर्य यह है कि मनुष्य चौवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करे। उसके प्राण, इन्द्रियां, अन्तःकरण और आत्मा बलयुक्त होकर सब दुष्टों को रुलानेवाले और श्रेष्ठों का पालन करने वाले होते हैं। इसे रुद्र ब्रह्मचारी कहते हैं।

उत्तम ब्रह्मचर्य अड़तालीस वर्ष पर्यन्त होता है। अड़तालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करने वाले के प्राण उसके अनुकूल होकर सकल विद्याओं को ग्रहण करते हैं। इसकी आयु चार सौ वर्ष पर्यन्त बढ़ सकती है। इसे आदित्य ब्रह्मचारी करते हैं। जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर इसका लोप नहीं करते वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

स्त्रियों का ब्रह्मचर्य-काल तथा आजीवन ब्रह्मचर्य

पच्चीस वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करे तो सोलह वर्ष पर्यन्त कन्या; तीस वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचारी रहे तो सत्रह वर्ष पर्यन्त स्त्री; छत्तीस वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचारी रहे तो अठारह वर्ष पर्यन्त स्त्री; चालीस वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करे तो बीस वर्ष पर्यन्त स्त्री; चौवालीस वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करे तो बाईस वर्ष पर्यन्त स्त्री; अड़तालीस वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचारी रहे तो चौबीस वर्ष पर्यन्त स्त्री ब्रह्मचर्य का सेवन करे, अर्थात् अड़तालीसवें वर्ष से आगे पुरुष और चौबीस वर्ष

से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिए। परन्तु यह नियम विवाह करने वाले पुरुषों और स्त्रियों का है; और जो विवाह करना ही न चाहें वे मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकें तो भले ही रहें परन्तु यह काम पूर्ण विद्यावाले, जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन कार्य है कि काम के वेग को थामकर इन्द्रियों को अपने वश में रखना।

ब्रह्मचारी के विशेष नियम

ब्रह्मचारी वैरत्याग (अहिंसा), सत्य जानना, सत्य बोलना और सत्य ही करना (सत्य), मन, वचन, कर्म से चोरी का त्याग (अस्तेय), उपस्थेन्द्रिय का संयम (ब्रह्मचर्य), और अत्यन्त लोलुपता छोड़ स्वत्वाभिमान रहित होना (अपरिग्रह), इन पांचों नियमों का सेवन सदा करे। इसी प्रकार स्नानादि से पवित्रता (शौच), पुरुषार्थ जितना हो सके करना, हानि-लाभ में हर्ष व शोक न करना (सन्तोष), कष्ट-सेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान (तप), पढ़ना-पढ़ाना (स्वाध्याय), तथा ईश्वर की भक्ति-विशेष से आत्मा को अर्पित रखना (ईश्वर प्रणिधान) इन पांच नियमों का सेवन ब्रह्मचारी सदा करे।

यमों के बिना केवल इन नियमों का सेवन न करे। किन्तु इन दोनों का युगपत् सेवन किया करे।

अत्यन्त कामातुरता तथा बिलकुल निष्कामता ये दोनों ही श्रेष्ठ नहीं। जैसा सारथि घोड़ों को नियम में रखता है, वैसे मन और आत्मा को खोटे कामों से खींच ले जानेवाली इन्द्रियों के निग्रह में सब प्रकार से प्रयत्न करता रहे। जो अजितेन्द्रिय है उसके वेग, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते। वेद के पढ़ने-पढ़ाने, सन्ध्योपासन तथा होम मन्त्रों के सम्बन्ध में अनध्याय न करना चाहिए। जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय होता है। ब्रह्मचारी को सदा नम्र तथा सुशील होना चाहिए और वृद्धों की सेवा करनी चाहिए। वह वाणी

और मन को सदा शुद्ध और सुरक्षित रखे। उपर्युक्त नियमों में रहकर द्विज अर्थात् ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञान रूप उत्तम तप को सदा बढ़ाते चले जाएं। ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी—मद्य, मांस, गन्ध, माला, खटाई, प्राणियों की हिंसा, उबटना मलना, अंजन लगाना, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, नाच, गाना और बाजा बजाना, द्यूत, व्यर्थकथा, निन्दा, मिथ्याभाषण आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें; सर्वत्र एकाकी सोवें। वीर्य स्खलित कभी न करें।

विवाह-काल

सुश्रुत, सूत्रस्थान, अध्याय २५ में लिखा है कि शरीर की चार अवस्थाएं हैं। एक 'वृद्धि' जिसमें कि सोलहवें वर्ष से लेकर पचीसवें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की बढ़ती होती है। दूसरी 'यौवन'—इसका आरम्भ पचीसवें वर्ष के अन्त में और छब्बीसवें वर्ष से लेकर चालीसवें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है। तीसरी अवस्था है 'किञ्चित्परिहाणि' अर्थात् कुछ-कुछ नुकसान की अर्थात् जब सांगोपांग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होकर पूर्णता को प्राप्त होते हैं, तदनन्तर जो धातु बढ़ता है, वह शरीर में नहीं रहता, किन्तु स्वप्न, प्रस्वेद आदि द्वारा बाहर निकल जाता है। वही चालीसवें वर्ष विवाह का उत्तम समय है, और सर्वोत्तम तो अड़तालीसवें वर्ष में विवाह करना है।

सन्ध्योपासन व ब्रह्मयज्ञ

माता, पिता व अध्यापक अपने लड़के लड़कियों को अर्थसहित गायत्री-मंत्र का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रियाएं हैं, सिखलावें। स्नान इसलिए है कि इससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्य आदि होते हैं।

आचमन के लिए उतने जल को हथेली में लें कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक ही पहुंचे, न उससे अधिक और न न्यून। हथेली के

मूल और मध्यदेश में ओष्ठ लगाकर आचमन करें। आचमन से कंठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति थोड़ी-सी होती है।

इसी प्रकार मार्जन, समन्त्रक प्राणायाम, मनसापरिक्रमण, उपस्थान, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की रीति भी सिखलावें। संध्योपासन एकान्त देश में एकाग्रचित्त से करें।

सन्ध्या, सायं-प्रातः, दो ही कालों में करें। रात-दिन की दो ही संध्या-वेलाएं हैं, अन्य नहीं। न्यून से न्यून एक घंटा ध्यान अवश्य करें। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं वैसे ही संध्योपासन भी किया करें। संध्योपासन को ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं।

सन्ध्योपासन, प्राणायाम की विधि

जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर खाया-पिया अन्न और जल बाहर निकल जाता है वैसे ही प्राण को बल से फेंकें और उसे बाहर ही यथाशक्ति रोक देवें। प्राण को जब बाहर निकालना चाहें तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रखें, तब तक प्राण बाहर रहता है। इस प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है।

जब घबराहट हो तब धीरे-धीरे वायु को भीतर लेकर फिर भी वैसे ही करता जाए जितना कि सामर्थ्य और इच्छा हो और मन में 'ओ३म्' का जप करता जाए। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता तथा स्थिरता होती है।

प्राणायाम चार प्रकार का होता है—बाह्यविषय, आभ्यन्तर, स्तम्भवृत्ति तथा बाह्याभ्यन्तराक्षेपी।

१. बाह्यविषय —अर्थात् प्राण बाहर ही रोकना।

२. आभ्यन्तर—अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जा सके उतना रोकना।

३ स्तम्भवृत्ति—अर्थात् एक ही बार, जहां का तहां प्राण को यथाशक्ति रोक देना।

४. बाह्याभ्यन्तराक्षेपी—अर्थात् प्राण जब भीतर से बाहर निकलने लगे तो उसके विरुद्ध न निकलने देने के लिए बाहर से भीतर को

प्राण लें और प्राण जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोका जाए। इस प्रकार एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करने से दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में हो जाता है और अंत में मन और इन्द्रियां भी वश में आ जाती हैं।

प्राणायाम के लाभ

जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।

जैसे अग्नि में तपाने से स्वर्ण आदि धातुओं का मल नष्ट होता है और वे धातु शुद्ध हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम द्वारा मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण हो जाते हैं और मन तथा इन्द्रियां निर्मल हो जाती हैं, बल और पुरुषार्थ बढ़ जाता है; बुद्धि तीव्र और सूक्ष्मरूप हो जाती है जिससे कि वह बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण कर लेती है। प्राणायाम का करने वाला सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेता है। प्राणायाम से मनुष्य-शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम तथा जितेन्द्रियता को उत्पन्न करता है। अतः पुरुष को प्राणायाम अवश्य करना चाहिए। स्त्री को भी चाहिए कि वह भी इसी प्रकार प्राणायाम क्रिया करे।

अग्निहोत्र या देवयज्ञ

ब्रह्मचारी देवयज्ञ भी किया करे। देवयज्ञ का दूसरा नाम अग्निहोत्र है। अग्निहोत्र सायं-प्रातः दो ही काल में करें, सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र करने का समय है। प्रत्येक मनुष्य को सोलह-सोलह आहुतियां देनी चाहिए और घृत आदि की प्रत्येक आहुति का परिमाण छः-छः मासे न्यून से न्यून होना चाहिए और जो इससे अधिक करे तो बहुत अच्छा है। ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र ही करना होता है, शेष तीन महायज्ञों का विधान ब्रह्मचारी के लिए नहीं है।

अग्निहोत्र के लाभ

सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग होते हैं और रोग से प्राणियों को दुःख होता है, तथा सुगन्ध, वायु और जल से आरोग्य होता है, और आरोग्य होने से सुख प्राप्त होता है। अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होकर, फैलकर वायु के साथ दूर-दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है। घर में रखी हुई कस्तूरी आदि की सुगन्ध का यह सामर्थ्य नहीं और न यह घर की वायु को ही बाहर निकालकर शुद्ध वायु का प्रवेश घर में करा सकती है क्योंकि कस्तूरी में भेदक शक्ति नहीं है। अग्नि की यह सामर्थ्य है कि वह घर की वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके घर से उन्हें बाहर निकाल पवित्र वायु का प्रवेश घर में करा सके।

जिस मनुष्य के शरीर में जितना दुर्गन्ध उत्पन्न होकर वायु और जल को बिगाड़कर रोगोत्पत्ति के निमित्त होकर प्राणियों को दुःख प्राप्त कराता है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थ उतनी या उससे अधिक सुगन्ध वायु और जल में फैलानी चाहिए। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है। इसलिए आर्यवर शिरोमणि महाशय, ऋषि, महर्षि, राजा, महाराजा लोग बहुत-सा होम किया करते और कराया करते थे। जब तक इस होम का प्रचार रहा तब तक आर्यावर्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। अब भी यदि प्रचार हो तो देश वैसा ही सुख-सम्पन्न हो जाए।

धर्माधर्म का लक्षण

(१) वेद, (२) स्मृति अर्थात् वेदानुकूल आप्तोक्त—मनुस्मृत्यादि शास्त्र, (३) सत्यपुरुषों का आचार अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वरप्रतिपादित कर्म और (४) अपनी आत्मा को प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है, जैसे कि सत्य भाषण, ये चार धर्म के लक्षण हैं अर्थात्

इन्हीं से धर्माधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण तथा असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है, उसी का नाम धर्म, और जो असत्य का ग्रहण रूप कर्म है, उसी को अधर्म कहते हैं। इस सम्बन्ध में मनु का निम्नलिखित श्लोक स्मरण रखना चाहिए। यथा—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥२।१२॥

धर्म के अधिकारी और धर्म का अभ्रान्त लक्षण

जो पुरुष सुवर्णादि रत्न (अर्थ), और स्त्रीसेवन (काम) आदि में नहीं फंसते, उन्हीं को धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है। वे यदि धर्मज्ञान की इच्छा करें तो वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें, क्योंकि धर्माधर्म का निश्चय बिना वेद के ठीक-ठीक नहीं होता। यथा मनु—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥२।१३॥

परीक्षा के पांच प्रकार हैं

जो-जो पढ़ना-पढ़ाना हो, वह-वह अच्छे प्रकार परीक्षा करके होना चाहिए। परीक्षा पांच प्रकार से होती है—

१—जो ईश्वर, गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों के अनुकूल हो वह सत्य और उसके विरुद्ध असत्य है।

२—जो सृष्टिक्रम के अनुकूल है वह सत्य और जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध है वह सब असत्य है। जैसे कोई कहे कि 'बिना माता-पिता के योग के लड़का उत्पन्न हुआ'—ऐसा कथन सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से असत्य है।

३—आप्त अर्थात् जो धार्मिक, विद्वान्, सत्यवादी और निष्कपटी लोग हैं, उनके आचार और उपदेश के अनुकूल जो है वह ग्राह्य और जो विरुद्ध है वह अग्राह्य है।

४—जो अपनी आत्मा की पवित्रता और विद्या के अनुकूल है वह

ग्राह्य और जो प्रतिकूल है वह अग्राह्य है। अर्थात् जैसे अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय लगता है वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख या सुख दूंगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा।

५—आठों प्रमाणों अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव के जो अनुकूल है वह ग्राह्य और जो प्रतिकूल है वह अग्राह्य है।

इस प्रकार प्रमाणादि द्वारा परीक्षा करके पढ़ें व पढ़ावें; अन्यथा विद्यार्थियों को सत्य-बोध कभी नहीं हो सकता। जिन-जिन ग्रथों को गुरु लोग पढ़ावें प्रथम उन-उन ग्रन्थों की पूर्वोक्त प्रकार से वे परीक्षा कर लिया करें। जो सत्य ठहरें उन-उन ग्रंथों को पढ़ावें, जो इन परीक्षाओं के विरुद्ध हों उन ग्रन्थों को न पढ़ें, न पढ़ावें।

ऋषिकृत ग्रन्थों की विशेषता

महर्षि लोगों ने सहजता से जो महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है? महर्षि लोगों का आशय जहां तक हो सके वहां तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे इस प्रकार का होता है। और क्षुद्राशय लोगों की इच्छा ऐसी होती है कि जहां तक बने वहां तक कठिन रचना करना, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़कर अल्प लाभ उठा सकें—जैसे पहाड़ खोदना, कौड़ी का लाभ होना और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ाना ऐसा है कि जैसे एक गोता लगाना, बहुमूल्य मोतियों का पाना। ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों को इसलिए भी पढ़ना चाहिए कि ऋषि बड़े विद्वान्, सर्वशास्त्रविद् और धर्मात्मा थे और अनृषि अर्थात् जो अल्पशास्त्र पढ़े हैं और जिनकी आत्मा पक्षपातरहित है, उनके बनाए हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।

क्या छः दर्शनों में परस्पर विरोध नहीं है?

छः दर्शनों में परस्पर विरोध नहीं। एक विषय में अनेक का परस्पर विरुद्ध कथन हो तो उसको विरोध कहते हैं। दर्शनों में 'सृष्टि

का प्रतिपादन' एक ही विषय है। सृष्टि-विद्या के भिन्न-भिन्न छः अवयवों का छः शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं। सृष्टि का जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादान कारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्तकारण जो परमेश्वर है, उसकी व्याख्या वेदान्तशास्त्र में है। इसमें कुछ भी विरोध नहीं। जैसे वैद्यकशास्त्र में निदान, चिकित्सा, औषधिदान और पथ्य के प्रकरण भिन्न-भिन्न कथित हैं, परन्तु सबका सिद्धान्त रोग-निवृत्ति है, वैसे ही सृष्टि के छः कारण हैं, इनमें से एक-एक कारण की व्याख्या एक-एक शास्त्रकार ने की है, इसलिए इनमें कुछ भी विरोध नहीं।

चतुर्थ समुल्लास

समावर्तन, विवाह और गृहस्थाश्रम विधि

समावर्तन

यथावत्, ब्रह्मचर्य में, आचार्यानुकूल रहकर धर्मपूर्वक चारों, तीन व दो, अथवा एक वेद को सांगोपांग पढ़कर, जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो, वह पुरुष या स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे। इस प्रकार के प्रवेश को समावर्तन कहते हैं।

विवाह में गुरु की आज्ञा

गुरु की आज्ञा लेकर, स्नान कर गुरुकुल से विधिपूर्वक आकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्णानुकूल, सुन्दर और शुभ लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करें।

निकट और दूर विवाह करने के गुण-दोष

निकट और दूर विवाह करने के गुण-दोष निम्नलिखित हैं।

यथा—

१—जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते, परस्पर क्रीड़ा लड़ाई और प्रेम करते, एक-दूसरे के गुण, दोष, स्वभाव या बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते और जो नंगे भी एक-दूसरे को देखते हैं, उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता।

२—जैसे पानी में पानी के मिलने से विलक्षण गुण नहीं होता वैसे ही एक गोत्र, पितृकुल व मातृकुल में विवाह होने से धातुओं के अदल-बदल न होने से उन्नति नहीं होती।

३—जैसे दूध, मिश्री व शुण्ठ्यादि औषधियों के योग से उत्तमता उत्पन्न होती है, वैसे ही भिन्न गोत्र अर्थात् मातृ-पितृकुल से पृथक् स्त्री-पुरुष का विवाह होना उत्तम है।

४—जैसे यदि कोई एक देश में रोगी रहता हो, वह दूसरे देश में चला जाय तो वायु और खान-पान के बदलने से रोग रहित होता है, वैसे ही दूर देश स्थानों के विवाह होने में उत्तमता है।

५—निकट सम्बन्ध करने में एक-दूसरे के निकट होने से सुख-दुःख का भान और विरोध होना भी सम्भव है, दूरस्थ देशों में नहीं। और दूरस्थों के विवाह में दूर-दूर प्रेम की डोरी लम्बी बढ़ जाती है, निकटस्थ विवाहों में नहीं।

६—कन्या के पितृकुल में दारिद्रय होना भी सम्भव है, क्योंकि जब-जब कन्या पितृकुल आएगी, तब-तब इसे कुछ न कुछ देना ही होगा।

७—निकट होने से एक दूसरे को अपने-अपने पितृकुल के सहाय का घमण्ड रहेगा और जब-जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा, तब-तब स्त्री झट ही पितृकुल में चली जाएगी, एक-दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी—इन कारणों से पिता का एक गोत्र, माता की छः पीढ़ी, और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं।

विवाह का समय

सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक कन्या और चौबीसवें वर्ष से लेकर अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है। स्त्री

और पुरुष यदि क्रम से सोलह और पचीस वर्ष में विवाह करें तो निकृष्ट, अठारह व बीस वर्ष की स्त्री और तीस-पैंतीस व चालीस वर्ष के पुरुष का विवाह मध्यम तथा चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह उत्तम है। जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि और ब्रह्मचर्य तथा विद्याभ्यास अधिक होता है, वह देश सुखी है, श्रेष्ठ है; और जिस देश में ब्रह्मचर्य तथा विद्याग्रहण में अरुचि और बाल्यावस्था में तथा अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है।

सदृश पति की खोज

कन्या पति की खोज कर अपने तुल्य पति को प्राप्त हो। चाहे लड़का और लड़की मरण-पर्यन्त कुमार रहें परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण, कर्म, स्वभाववालों का विवाह कभी न होना चाहिए अर्थात् असदृश का विवाह होना योग्य नहीं है।

क्या विवाह माता और पिता के अधीन होना चाहिए ?

विवाह लड़के और लड़की के अधीन होना उत्तम है। माता-पिता यदि सन्तानों का विवाह कभी विचारें भी, तो भी लड़के और लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिए। क्योंकि एक-दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने से विरोध बहुत कम होता है और सन्तान उत्तम होती है।

अप्रसन्नता से किए गए विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है; माता पिता का नहीं। क्योंकि यदि उनमें प्रसन्नता रहे तो उन्हीं को सुख और यदि विरोध हो तो उन्हीं को दुःख होगा। इसलिए जैसी स्वयंवर की रीति आर्यावर्त में परम्परा से चली आती है, उसी प्रकार विवाह करना उत्तम है। जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें तब उनकी विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल शरीर का परिमाण यथायोग्य होना चाहिए। जब तक इनका मेल नहीं होता तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं

होता ।

कन्या और वर का विवाह से पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिए क्योंकि युवावस्था में स्त्री-पुरुष का एकान्तवास दूषणकारक है। परन्तु जब कन्या या वर के विवाह का समय हो, अर्थात् जब एक वर्ष व छः महीने ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहें तब उन कुमारों और कन्याओं के प्रतिबिम्ब जिसको 'फोटोग्राफ' कहते हैं अथवा प्रतिकृति उतारकर कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की और कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की भेज देवें। जिस-जिसका रूप मिल जाए, उस-उसका इतिहास, अर्थात् जन्म से लेकर उस दिन पर्यन्त जन्म-चरित्र की पुस्तक अध्यापक लोग मंगवाकर देखें। जब दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव सदृश हों तब जिस-जिसके साथ जिस-जिसका विवाह होना योग्य समझें उस-उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास, कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इसमें जो तुम्हारा अभिप्राय हो उससे हमें विदित कर देना। तब उन दोनों का समावर्तन एक ही समय में करें। यदि वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें तो वहां, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों तब उन अध्यापकों का कन्या के माता-पिता आदि भद्र पुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत करा देनी चाहिए। यदि वे कुछ गुप्त बातें भी एक-दूसरे से पूछना चाहें तो इस सभा में लेख द्वारा एक-दूसरे से पूछ सकते हैं। जब दोनों का दृढ़ प्रेम विवाह करने में हो जाए तब यथासमय सबके सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाह की विधि कराएं।

जब तक इसी प्रकार सब ऋषि, मुनि, राजा, महाराजा तथा आर्य लोग ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या पढ़कर स्वयंवर-विवाह करते रहे तब तक इस देश की सदा उन्नति रही। परन्तु जब से ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या का पढ़ना बन्द हो गया और माता-पिता के अधीन विवाह होने लगा, तब से क्रमशः आर्यावर्त देश की हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़कर सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्णव्यवस्था भी गुण, कर्म,

स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए।

अन्य वर्णस्थ माता-पिता से क्या ब्राह्मण हो सकता है ?

जिसके माता-पिता अन्य वर्णस्थ हों क्या उनकी सन्तान भी ब्राह्मण हो सकती है ? हां, बहुत-से हो गए, होते हैं और होंगे भी। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञात कुल के थे, परन्तु ब्राह्मण हो गए तथा महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण से और मतंग ऋषि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गए थे। अब भी जो उत्तम विद्या और स्वभाववाला है वही ब्राह्मण कहाने के योग्य होता है और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है, और वैसा ही आगे भी होगा। रज-वीर्य के योग से ब्राह्मण शरीर नहीं होता, किन्तु पढ़ने-पढ़ाने, विचार करने-कराने नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द-अर्थ सम्बन्ध-पूर्वक तथा स्वरोच्चारण के साथ पढ़ने-पढ़ाने, पौर्णमास इष्टि आदि के करने, धर्म से संतानोत्पत्ति तथा पंचमहायज्ञों के करने और अग्निष्टोम आदि यज्ञ, विद्वानों का संग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म तथा सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़कर दुष्टाचार को छोड़ श्रेष्ठाचार में बर्तने से यह शरीर ब्राह्मण का किया जाता है। यथा मनु—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२।२८॥

वर्ण-परिवर्तन में प्रधानतया युक्ति

वर्ण-परिवर्तन के सम्बन्ध में मनु का निम्नलिखित श्लोक स्मरणीय है। यथा—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १०।६५॥

अर्थात् शूद्र कुल में उत्पन्न होकर—ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के समान गुण, कर्म, स्वभाववाला हो तो वह शूद्र भी ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो जाए। वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कुल में उत्पन्न

हुआ हो और उनके गुण, कर्म, स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य भी शूद्र हो जाए। वैसे क्षत्रिय या वैश्य कुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण व शूद्र के समान होने से ब्राह्मण व शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में गुण-कर्म दृष्टि से जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष या स्त्री हो वह-वह उसी वर्ण में गिना या गिनी जाए।

इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब के भी निम्नलिखित दो सूत्र हैं। यथा :

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।

अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।

अर्थात् धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जाता है जिस-जिसके कि वह योग्य होता है। वैसे अधर्माचरण से पूर्ण अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य भी अपने से नीचे वर्ण को प्राप्त होता है और उसी निचले वर्ण में वह गिना भी जाना चाहिए। जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस- वर्ण के गुण, कर्म हों उसे उस-उस वर्ण का ही अधिकार होना चाहिए। ऐसी व्यवस्था रखने से मनुष्य उन्नतिशील होता है। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि यदि हमारी सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होगी तो वह शूद्र हो जाएगी और सन्तान डरती रहेगी कि यदि हम उक्त चाल चलनेवाले और विद्यायुक्त न होंगे तो हमें शूद्र होना पड़ेगा। गुण-कर्मानुसार वर्णव्यवस्था होने से नीच वर्णों का उत्तमवर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ता है।

वर्ण-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था, गुण, कर्म. स्वभाव से होती है, रज-वीर्य के योग से नहीं। जो कोई रज-वीर्य के योग से वर्णव्यवस्था माने और गुण-कर्मों के योग से न माने तो उससे पूछ लेना चाहिए कि कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज, क्रिश्चियन या मुसलमान हो गया हो तो तुम उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते ? यहां यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिए। इसलिए वह ब्राह्मण नहीं है। इससे फिर यह सिद्ध हो जाता है कि जो ब्राह्मण के उत्तम कर्म करते हैं वे ही

ब्राह्मणादि हैं, तथा जो नीच वर्णवाला भी उत्तम वर्ण के गुण, कर्म, स्वभाववाला हो तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होकर नीच कर्म करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिए।

यजुर्वेद इकत्तीसवें अध्याय का ग्यारहवां मन्त्र निम्नलिखित है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू[1] राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

इसका अर्थ यह है कि पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में जो मुख के सदृश सबमें मुख्य अर्थात् उत्तम हो वह ब्राह्मण है। बल-वीर्य का नाम बाहु है। वह जिसमें अधिक हो वह क्षत्रिय। कटि के अधोभाग और जानु के ऊपरवाले भाग का नाम उरु है, अतः जो सब देशों में व्यापार के निमित्त उरु के बल से जाए वह वैश्य, और जो पग अर्थात् नीच अंग के सदृश मूर्खत्वादि गुणवाला हो वह शूद्र है।

अन्यत्र शतपथ ब्राह्मण आदि में भी इस मन्त्र का ऐसा ही अर्थ किया है। जैसे—

यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त।

इसका अर्थ यह है कि 'चूंकि ये मुख्य हैं, इसलिए ये मुख से उत्पन्न हुए।' ऐसा कथन संगत भी है। अर्थात् जैसे मुख सब अंगों में श्रेष्ठ है, वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण, कर्म से युक्त होने के कारण मनुष्य जाति में उत्तम ब्राह्मण कहलाता है। जब परमेश्वर के निराकार होने से मुख आदि अंग ही नहीं हैं, तब वास्तविक मुख आदि से तो इनका उत्पन्न होना असम्भव ही है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से आलंकारिक वर्णन ही इस मन्त्र का मुख्य ध्येय समझना चाहिए।

जैसे पुरुष अपने गुणों और कर्मों के अनुसार वर्ण के योग्य होता है वैसे ही स्त्रियों के सम्बन्ध में व्यवस्था जाननी चाहिए।

इस प्रकार गुण-कर्मानुसार व्यवस्था के होने से सब वर्ण अपने-अपने गुण कर्म और स्वभाव से युक्त होकर शुद्धता के साथ रह सकेंगे। अर्थात् इस प्रकार ब्राह्मण के कुल में ऐसा कोई व्यक्ति न रह सकेगा

---

१. बाहुवैं बलम्, बाहुवैं वीर्यम्। (शतपथ ब्राह्मण)

जो कि क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के गुण, कर्म, स्वभाववाला हो, और ब्राह्मण के जैसे गुण, और कर्म होने चाहिए वैसे गुणों और कर्मों से युक्त न हो। इस युक्ति के अनुसार अन्य वर्ण अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने शुद्ध रूप में रह सकते हैं।

गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था में किसी वर्ण की निन्दा व अयोग्यता का भी अवसर नहीं रहता।

यहाँ ऐसी आशंका न होनी चाहिए कि यदि किसी गृहस्थ के एक ही पुत्र या पुत्री हो और वह भी यदि गुण-कर्मानुसार दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाए तो उस गृहस्थ का तो वंशोच्छेद ही हो जाएगा। क्योंकि ऐसे गृहस्थ को अपने लड़के और लड़की के बदले उस गृहस्थ के वर्ण के योग्य दूसरी सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिल जायेगी, इसलिए कोई भी अव्यवस्था न होगी।

गुण, कर्मों के आधार पर वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष की और पुरुष की पचीसवें वर्ष की परीक्षा में निश्चित करनी चाहिए।

वर्णों के अपने-अपने कर्त्तव्य

विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को दे देना चाहिए, क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथा-योग्य कर सकते हैं क्षत्रियों को राज्य का अधिकार देने से हानि व उसमें विघ्न नहीं होता।

वैश्य के काम हैं देशों की भाषा, नाना प्रकार के व्यापारों की रीति तथा भाव जानना, बेचना, खरीदना, द्वीप-द्वीपान्तर में आना-जाना, लाभार्थ काम का आरम्भ करना, पशु-पालन और खेत की उन्नति चतुराई से करनी-करानी, धन का बढ़ाना, उसका विद्या और धर्म की उन्नति में व्यय करना तथा सत्यवादी, निष्कपटी होकर सत्यता से सब व्यापार करना, आदि।

शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिए है कि वह विद्यारहित और मूर्ख होने से विज्ञान-सम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है। इसलिए शूद्र सब सेवाओं में चतुर

और पाकविद्या में निपुण होना चाहिए। शूद्र अति प्रेम से द्विजों की सेवा करे और उन्हीं से अपनी आजीविका प्राप्त करे और द्विज लोग उसके खान-पान, वस्त्र, स्थान और विवाहादि में जो कुछ व्यय हो सब कुछ देवें अथवा मासिक वृत्ति नियत कर देवें। चारों वर्णों को परस्पर की प्रीति, उपकार और सज्जनता में और परस्पर के सुख-दु:ख, हानि और लाभ में तथा राज्य और प्रजा की उन्नति में, एकमत होकर तन, मन और धन व्यय करते रहना चाहिए।

इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्य जनों का काम है।

पंचमहायज्ञ

ऋषियज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र, भूतयज्ञ अर्थात् बलिवैश्वदेव, नृयज्ञ अर्थात् अतिथियज्ञ और पितृयज्ञ ये पांच महायज्ञ हैं। गृहस्थी इन यज्ञों के करने से कभी चूके नहीं। यथा मनु—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥४।२१॥

(१) ब्रह्मयज्ञ और (२) देवयज्ञ

प्रथम 'ब्रह्मयज्ञ' है, अर्थात् वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना सन्ध्योपासना तथा योगाभ्यास। दूसरा 'देवयज्ञ' है, अर्थात् विद्वानों का संग, सेवा, पवित्रता, दिव्यगुणों का धारण, दान तथा विद्या की उन्नति करना। ये दोनों यज्ञ सायं-प्रातः करने होते हैं। जो सायंकाल में होम होता है, वह हुतद्रव्य प्रातःकाल तक वायुशुद्धि द्वारा सुखकारी होता है तथा जो अग्नि में प्रातःकाल होम किया जाता है वह हुतद्रव्य सायंकाल पर्यन्त वायु की शुद्धि द्वारा बल, बुद्धि और आरोग्य का बढ़ानेवाला होता है। इसलिए दिन और रात्रि की सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्त समय में परमेश्वर का ध्यान करना और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए।

(३) पितृयज्ञ

देव अर्थात् विद्वान्, ऋषि अर्थात् पढाने-पढ़नेहारे और पितर अर्थात् माता-पिता आदि वृद्ध, ज्ञानी तथा परमयोगी जनों की सेवा करना पितृयज्ञ है। पितृयज्ञ के दो भेद हैं। एक श्राद्ध और दूसरा तर्पण[1] श्रत् का अर्थ है सत्य। जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाए उसको श्रद्धा और जो श्रद्धा से काम किया जाए उसको श्राद्ध कहते हैं तथा जिस-जिस कर्म से तृप्ति अर्थात् विद्यमान माता-पिता आदि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किए जाएं, उनका नाम तर्पण है। परन्तु यह जीवितों के लिए है, मृतकों के लिए नहीं।

(४) बलिवैश्वदेव अर्थात् भूतयज्ञ

जब भोजन सिद्ध हो तब जो कुछ भोजनार्थ बने उसमें से खट्टा लवणान्न और क्षार छोड़कर, घृत तथा मिष्ट से युक्त अन्न लेकर चूल्हे से अग्नि अलग निकालकर उस पर मंत्रों से गृहस्थी आहुति दें तथा भिन्न-भिन्न भागों में पृथक्-पृथक् रखें। इस वैश्वदेव के तीन हिस्से हैं— १. जो कुछ पाकशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो, उसका उसी पाकाग्नि में मन्त्रों से विधि पूर्वक नित्य होम करना। २. तत्पश्चात् थाली में अथवा भूमि पर पत्ता रखकर पूर्व दिशा आदि के क्रमानुसार मंत्रपूर्वक भिन्न-भिन्न भाग रखना। इन भागों को यदि कोई अतिथि हो तो उसको जिमा देवें अथवा अग्नि में छोड़ देवें। ३. इसके अनन्तर लवणान्न अर्थात् दाल, भात, शाक, रोटी आदि लेकर छः भाग भूमि पर धरें। पश्चात् उसे किसी दुःखी या बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते, कौए आदि को दे देवें, अर्थात् कुत्ते, पापी, चांडाल, पापरोगी कौए और कृमि अर्थात् चींटी आदि को वह अन्न दे देवें।

(५) अतिथि-सेवा या नृयज्ञ

अतिथि उसको कहते हैं जिसके आने की कोई तिथि निश्चित न

---

१. यह तर्पण तीन प्रकार का होता है।

हो, अर्थात् जो गृहस्थी के घर में अकस्मात् आ जाए। धार्मिक, सत्योपदेशक, सबके उपकारार्थ घूमनेवाला पूर्ण विद्वान्, परमयोगी तथा संन्यासी अतिथि यदि गृहस्थ के घर में आ जाए तो गृहस्थी उसे प्रथम पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय—तीन प्रकार का जल—पैरों के धोने, मुख के धोने तथा आचमन के लिए देवे। पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठाए और खान-पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों द्वारा उसकी सेवा-शुश्रूषा करे, इस प्रकार उसे सब तरह प्रसन्न करे। पश्चात् सत्संग कर उससे ज्ञान और विज्ञान-सम्बन्धी उपदेश का श्रवण करे, जिससे कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो। साथ अपना चाल-चलन भी उसके सदुपदेशानुसार रखे। समयानुसार गृहस्थी और राजा आदि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि आजकल के जो वैरागी और खाकी आदि हैं जो कि हठी, दुराग्रही तथा वेदविरोधी हैं—ऐसों का सत्कार वाणी-मात्र से भी गृहस्थी न करे। क्योंकि ऐसों का सत्कार करने से ये वृद्धि को प्राप्त होकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं। ये आप तो अवनति के काम करते हैं परन्तु साथ सेवक को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबा देते हैं।

पंचमहायज्ञों के फल

इन पांच महायज्ञों के फल ये हैं कि **ब्रह्मयज्ञ** के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म और सभ्यता आदि शुभ गुणों की वृद्धि होती है।

अग्निहोत्र से वायु, वृष्टि और जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होता है। अर्थात् शुद्ध वायु से श्वास, स्पर्श और शुद्ध अन्न-जल के खान-पान से आरोग्य, बुद्धि-बल और पराक्रम बढ़कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होता है। अग्निहोत्र को देवयज्ञ इसलिए कहते हैं चूंकि यह देवों अर्थात् वायु आदि पदार्थों को शुद्ध कर देता है।

पितृयज्ञ का फल यह है कि गृहस्थी जब माता-पिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा तब उनकी कृपा से उसका ज्ञान बढ़ेगा

और गृहस्थी सत्यासत्य का निर्णय कर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग से सुखी रहेगा। पितृयज्ञ का दूसरा फल है—कृतज्ञता, अर्थात् जैसी सेवा माता, पिता और आचार्य ने सन्तान और शिष्य की की है उसका बदला देना भी उचित ही है और यह पितृयज्ञ द्वारा दिया जाता है।

बलिवैश्वदेवयज्ञ में सिद्धान्न का पाकाग्नि में होम, दिव्यगुणों के अर्थ किया जाता है। इस होम के करने से पाकशालीय वायु शुद्ध होती है और जो बिना जाने अदृष्ट जीवों की हत्या होती रहती है उसका प्रतिकार भी इससे होता है तथा कुत्ते आदि प्राणियों को अन्न भी मिलता है।

अतिथियज्ञ का फल यह है कि जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते तब तक उन्नति भी नहीं हो सकती। उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि भी नहीं होती तथा इनके द्वारा सर्वत्र गृहस्थों को सहज से विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है। इस प्रकार मनुष्य-मात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है। बिना अतिथियों के सन्देह की निवृत्ति नहीं होती। सन्देह-निवृत्ति के बिना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता। निश्चय बिना सुख कहाँ ?

स्त्री-पुरुष के अन्य गृहस्थ कर्त्तव्य

रात्रि के चौथे पहर अथवा चार घड़ी रात रहे गृहस्थी उठें। आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ का, शरीर के क्लेशों और उनके कारणों का तथा परमात्मा का अनुचिन्तन करें। कभी अधर्म का आचरण न करें। ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, बाल, वृद्ध, आतुर, श्वसुर आदि सम्बन्धियों, मित्र, पिता, बहिन, भाई, पुत्री और सेवक लोगों से विवाद अर्थात् लड़ाई-बखेड़ा कभी न करें। स्त्री और पुरुष को चाहिए कि जैसे दीमक बांबी को बनाती है वैसे प्राणियों को पीड़ा न देते हुए परलोक के सुखार्थ धीरे-धीरे धर्म का संचय करें क्योंकि परलोक में एक धर्म ही सहायक होता है।

सदा दृढ़कारी, कोमल स्वभाव और जितेन्द्रिय हों। हिंसक और

दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहनेवाले और मन को जीतनेवाले हों।

वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। अतः जो मिथ्याभाषण करता है, वह सब चोरी आदि पापों का करनेवाला होता है। इसलिए मिथ्याभाषण आदि अधर्म को छोड़ देवें। जो-जो पराधीन कर्म हों उन-उनका प्रयत्न से त्याग और जो-जो स्वाधीन कर्म हों उन-उनका प्रयत्न के साथ सेवन करें। परन्तु जो एक-दूसरे के अधीन काम हैं उनको अधीनता से ही करना चाहिए। उदाहरण के लिए स्त्री-पुरुषों का एक-दूसरे के अधीन व्यवहार। स्त्री-पुरुष समझें कि जब विवाह हुआ तब स्त्री के साथ पुरुष और पुरुष के साथ स्त्री बिक चुकी। स्त्री व पुरुष परस्पर की प्रसन्नता के बिना कोई भी व्यवहार न करें। स्त्री का पूजनीय देव पति और पुरुष की पूजनीया तथा सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है।

गृहस्थ यदि ब्राह्मणवर्णस्थ हो तो पुरुष लड़कों को पढ़ाए और सुशिक्षिता स्त्री लड़कियों को पढ़ाए, तथा नानाविध उपदेश और वक्तृत्व करके इन्हें विद्वान् करे।

गृहस्थाश्रम अन्य आश्रमों से छोटा है अथवा बड़ा ?

अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों में सब बड़े हैं। परन्तु जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक घूमते ही रहते हैं जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे गृहस्थ ही के आश्रम से सब आश्रम स्थिर रहते हैं। बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। चूंकि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—इन तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देकर प्रतिदिन गृहस्थ ही इनका धारण करता है, इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम कहा है, अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है इसलिए मोक्ष और संसार के सुख की जो इच्छा करता हो, वह प्रयत्न से गृहस्थाश्रम को धारण करे। गृहस्थाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने के अयोग्य है। जो यह गृहस्थाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम कहां से हो सकते ? जो कोई गृहस्थाश्रम की निन्दा करता है,

वह निन्दनीय है। परन्तु तभी गृहस्थाश्रम में सुख होता है जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार से व्यवहारज्ञाता हों। इसलिए गृहस्थाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है।

पंचम समुल्लास

वानप्रस्थ तथा संन्यास की विधि

वानप्रस्थ की विधि

गृहस्थाश्रम के पश्चात् पचासवें वर्ष की आयु में द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करें। जब सिर के केश श्वेत हो जाए, त्वचा ढीली पड़ जाए और लड़के का लड़का भी हो जाए तब वानप्रस्थ का विधान है—इस समय अपनी धर्मपत्नी को अपने पुत्रों के पास रख दे अथवा वन में अपने साथ ले चले परन्तु पति-पत्नी का वासना-सम्बन्ध त्याग दे।

वानप्रस्थी के कर्त्तव्य

ग्राम के आहार और वस्त्रादि उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़ देवें। नाना प्रकार के वनीय अन्न तथा सुन्दर-सुन्दर शाक, मूल, फल, फूल और कन्दादि द्वारा पांच महायज्ञों को किया करे और उसी से अतिथि-सेवा तथा अपना निर्वाह करे।

नित्य स्वाध्याय किया करे, इन्द्रियों को जीते, सबके साथ मैत्री व्यवहार करे, विद्यादि का दान देनेवाला तथा सब पर दयालु हो। शरीर के लिए अति यत्न न करे, ब्रह्मचारी रहे। पदार्थों में ममता न करे। तपश्चर्या, सत्संग, योगाभ्यास तथा सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करता रहे तथा श्रद्धामय बने।

संन्यास की विधि

वानप्रस्थी की जब संन्यास ग्रहण करने की इच्छा हो तब वह स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे। वन में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पचहत्तरवें वर्ष तक का भाग बिताकर, आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़कर परिव्राट् अर्थात् संन्यासी होवे। जब भी पूर्ण वैराग्य हो जाए तभी संन्यास ग्रहण कर सकता है। पूर्ण वैराग्य होने पर सीधे गृहस्थ से तथा ब्रह्मचर्य से संन्यास ग्रहण कर सकता है। परन्तु ब्रह्मचर्य से संन्यास ग्रहण तभी करे यदि वह पूर्ण विद्वान् और जितेन्द्रिय हो तथा विषय-भोग कामना से रहित और परोपकार करने की इच्छा से युक्त हो। परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत और शिखा आदि चिह्नों को छोड़, पुत्रैषणा, धनैषणा तथा लोकैषणा से ऊँचा उठकर संन्यास ग्रहण करे।

संन्यासी के चिह्न

केश, नख, दाढ़ी और मूंछों का छेदन कराए। सुन्दर पात्र, दण्ड और कुसुम्भ आदि के रंगे वस्त्रों को धारण करे। परन्तु संन्यासी अपने मन में यह निश्चित जान ले कि दण्ड, कमण्डलु और काषाय वस्त्र आदि चिह्नों के धारण कर लेने मात्र में कोई धर्म नहीं है।

संन्यासी के कर्त्तव्य

संन्यासी सब भूतों अर्थात् प्राणि-मात्र को अभयदान देवे। सदा सत्य बोले, मन से विचारकर सत्य का ग्रहण करे और असत्य को छोड़ देवे। संन्यासी पर यदि कोई क्रोध करे या उसकी कोई निन्दा करे, तो संन्यासी को उचित है कि उसपर आप क्रोध न करे किन्तु सदा उसे कल्याणार्थ उपदेश ही करे। इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, राग-द्वेष को छोड़ तथा सब प्राणियों से निर्वैर व्यवहार कर मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाता रहे। प्राणायाम से आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोषों को, धारणा से पाप को, प्रत्याहार से संगदोष को और ध्यान से हर्ष, शोक और अविद्यादि दोषों को भस्मीभूत करे; तथा ध्यानयोग

से अपनी आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे। सब पदार्थों में निःस्पृह और आकांक्षारहित हो तथा बाहर-भीतर के सब व्यवहारों में पवित्र भाव रखे। संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि वे सब गृहस्थादि आश्रमियों को सब प्रकार के व्यवहारों का सत्य निश्चय करा और अधर्म व्यवहारों से छुड़ा, उनके सब संशयों का छेदन कर सत्य और धर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें।

संन्यास का अधिकार

संन्यास ग्रहण करने का अधिकार ब्राह्मण ही को है। क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक तथा परोपकारप्रिय मनुष्य है उसी का नाम ब्राह्मण है। बिना पूर्ण विद्या के, बिना धर्म और परमेश्वर की निष्ठा तथा वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने से संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता। इसलिए लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को संन्यास का अधिकार है, अन्य को नहीं।

संन्यास-ग्रहण की आवश्यकता

जैसे शरीर में सिर की आवश्यकता है, वैसे ही आश्रमों में संन्यास-आश्रम की आवश्यकता है। क्योंकि—

१—इसके बिना विद्या और धर्म कभी नहीं बढ़ सकता।

२—दूसरे आश्रमों के साथ विद्याग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्या आदि का सम्बन्ध होने से इन आश्रमों को अवकाश बहुत कम मिलता है, अतः ये आश्रमी धर्म तथा परोपकार में अधिक अग्रसर नहीं हो सकते।

३—पक्षपात को छोड़कर वर्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है।

४—जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार कर सकता है वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता। क्योंकि संन्यासी को सत्य विद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता। परन्तु जो ब्रह्मचर्य से ही संन्यासी होकर और सत्य शिक्षा देकर जगत् की जितनी उन्नति कर

सकता है उतनी उन्नति गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ आश्रम से संन्यासाश्रम ग्रहण कर संन्यासी नहीं कर सकता।

५—संन्यासी को भ्रमण का भी अवकाश अधिक मिल सकता है। एकत्रवास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता तथा एकत्रवास से विशेष स्थान के साथ प्रेम और तद्वासियों के साथ राग-द्वेष की भी सम्भावना हो जाती है। परन्तु यदि विशेष उपकार एकत्र रहने से होता है तो संन्यासी एक स्थान में भी रहे। जैसे जनक राजा के पास चार-चार महीने तक पंचशिख आदि तथा अन्य संन्यासी कितने ही वर्षों तक निवास करते रहे थे।

भिन्न-भिन्न आश्रमों के कर्त्तव्य

विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिए ब्रह्मचर्याश्रम; सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ; विचार, ध्यान और विज्ञान बढ़ाने तथा तपश्चर्या करने के लिए वानप्रस्थ और वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्मपूर्ण व्यवहार के ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग करनें, सत्योपदेश करने तथा सबको निःसंदिग्ध करने आदि के लिए संन्यास आश्रम है। जो संन्यासी होकर भी संन्यास का मुख्य धर्म अर्थात् सत्योपदेश आदि नहीं करते, वे पतित और नरकगामी होते हैं। अतः संन्यासियों को उचित है कि वे सत्योपदेश, शंका-समाधान, वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्ययन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से कर सब संसार की उन्नति किया करें।

षष्ठ समुल्लास

राजधर्मविषय

राज्यव्यवस्था के लिए राज्य में राजा, राजसभाओं, मन्त्रियों, न्यायालयों, गुप्तचरों, राज्यकर्मचारियों, संग्रामादि की व्यवस्थाओं, सेनाओं तथा सेनापति आदि की आवश्यकता होती है।

राजा

इन सबमें राजा सबका मुखिया है। वेदों के मंतव्य के अनुसार राजा को प्रजा चुनती है और इसे हटा भी सकती है। उस पुरुष को राजा चुनना चाहिए जो कि प्रजा में सर्वश्रेष्ठ हो, शत्रुओं को जीत सके प्रशंसनीय गुण, कर्म, स्वभाव से युक्त हो, सत्करणीय हो और परम सुशिक्षित हो; तथा जो विद्युत् की भांति शीघ्रता से ऐश्वर्य उत्पन्न करने वाला हो, वायु के समान सबको प्राणवत् प्रिय हो, पक्षपातरहित न्यायाधीश के समान बर्तनेवाला हो, सूर्य के समान न्याय, धर्म और विद्या का प्रकाशक तथा अंधकार अर्थात् अविद्या और अन्याय का विरोधी हो, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करनेवाला हो, वरुण की न्याईं दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधनेवाला, चन्द्र की न्याईं श्रेष्ठपुरुषों को आनन्द देनेवाला और धनाध्यक्ष की न्याईं कोषों का पूर्ण करने वाला हो। इस राजा को राजव्यवस्था के निमित्त राज्यसभाओं के अधीन रहना चाहिए। और यह राजा राज्यकार्य में स्वतन्त्र न होता हुआ सभाओं की सम्मति से अर्थात् सभा के सभापति के रूप में कार्य किया करे।

राष्ट्र की तीन सभाएँ

ऋग्वेद, मण्डल ३, सूक्त ३८ का छठा मंत्र राजसभाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित है। यथा—

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।

इसका अर्थ यह है कि राजा और प्रजा के पुरुष मिलकर सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा और प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार में तीन सभाओं अर्थात् विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा, और राजार्यसभा को नियत करके, बहुत प्रकार के समग्र प्रजा मनुष्यों को विद्या, स्वातन्त्र्य सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें। इस प्रकार इस मंत्र में राज्य-व्यवस्था के लिए परमात्मा ने वेद द्वारा तीन सभाओं के निर्माण का उपदेश दिया है।

इन सभाओं के सभासद् तथा सभापति के गुण

महाविद्वानों को विद्यार्यसभा के सभासद्, धार्मिक विद्वानों को धर्मार्यसभा के सभासद् तथा प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजार्यसभा के सभासद् बनाना चाहिए; और जो उन सबमें सर्वोत्तम गुण, कर्म, स्वभावयुक्त महान् पुरुष हों उनको राजार्यसभा का प्रतिरूप माने। सभासद् और सभापति वही हो सकते हैं जो कि चारों वेदों की विद्याओं, सनातन दण्डनीति, न्यायविद्या तथा वार्ताओं का कहना और पूछना अच्छी प्रकार जानते हों। सभासद् और सभापति इन्द्रियों को जीत और इन्हें अपने वश में रखकर सदा धर्म में बरतें और अधर्म से हटे रहें तथा दृढ़ोत्साही होकर काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले दुष्ट व्यसनों को प्रयत्न से छोड़ देवें।

सभा या परिषद् के सभासदों की संख्या

न्यून से न्यून दस विद्वान् अथवा बहुत न्यून हों तो तीन विद्वानों की सभा जैसी व्यवस्था करे, उसका उल्लंघन कोई भी न करे। दस विद्वानों की परिषद् की अवस्था में वे विद्वान् निम्नलिखित होनें चाहिए। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के तीन ज्ञाता, न्यायशास्त्र का ज्ञाता, मीमांसा का ज्ञाता, निरुक्त का ज्ञाता, धर्मशास्त्र का ज्ञाता तथा ब्रह्मचारियों, गृहस्थियों तथा वानप्रस्थियों का एक-एक प्रतिनिधि। तीन विद्वानों की परिषद् के सम्बन्ध में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के ज्ञाता तीन विद्वान् सभासद् होने चाहिएं। इनके द्वारा की गई व्यवस्था का कोई भी उल्लंघन न करे।

सब वेदों का जाननेहारा, द्विजों में उत्तम, अकेला संन्यासी भी जिस धर्म की व्यवस्था करे उसे श्रेष्ठ धर्म जानना चाहिए। और अज्ञानी सहस्रों, लाखों तथा करोड़ों भी मिलकर जो कुछ व्यवस्था करें उसे कभी न मानना चाहिए। जो ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि व्रत, वेदविद्या व विचार से रहित, जन्म-मात्र से शूद्रवत् हैं, उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहलाती।

इसलिए विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा और राजार्यसभा में मूर्खों को

कभी भरती न करना चाहिए।

राजा, राजसभाओं तथा प्रजा का परस्पर सम्बन्ध

किसी एक व्यक्ति को राज्य का स्वतन्त्र अधिकार न देना चाहिए। किन्तु राजा, जो कि सभापति रूप है, उसके आधीन सभा, और सभा के अधीन राजा, इसी प्रकार राजा और सभा प्रजा के अधीन तथा प्रजा राजसभा के अधीन रहें। यदि प्रजा से स्वतन्त्र तथा स्वाधीन राजा और राजवर्ग रहें तो वे प्रजा का नाश कर देते हैं। क्योंकि अकेला राजा स्वाधीन या उन्मत्त होकर प्रजा का नाशक होता है, अर्थात् वह राजा प्रजा को खा जाता है। इसलिए किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए।

नियम बनाना

उपर्युक्त तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम बना करें और इन नियमों के अधीन सब लोग बर्ता करें। सबके हितकारक कामों में सभासद् अपनी-अपनी सम्मति दिया करें। सर्वहित करने के लिए सभासद् परतंत्र हैं और निज धर्मयुक्त कामों में वे स्वतंत्र हैं।

सभापतियों तथा सभासदों को राजाज्ञा

उपर्युक्त प्रत्येक सभा में से एक-एक मुख्य सभासद् चुनना चाहिए जो कि सभा के कार्यों का निर्वहन करे। इस मुख्य सभासद् तथा अन्य शेष सभासदों को राजा आज्ञा देवे—हे सभा के योग्य मुख्य सभासद् ! तू भी सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था का पालन कर और जो सभा के योग्य सभासद् हैं वे भी सभा की व्यवस्था का पालन करें।

इस प्रकार की राजाज्ञा के सम्बन्ध में अथर्ववेद का आगे दिया मंत्र अवश्य स्मरण रखना चाहिए। यथा—

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥

अथर्व० कां० १९ वर्ग ५५ मं० ६॥

मन्त्रिमण्डल

राजा अपने राज्य अर्थात् स्वदेश में उत्पन्न, वेदादि शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो, ऐसे कुलीन, अच्छे प्रकार परीक्षित, उत्तम, धार्मिक और चतुर—सात व आठ मंत्री नियत करे। क्योंकि विशेष साहाय्य के बिना सुगम काम भी एक के करने में कठिन ही हो जाते हैं तो महान् राज्य-कर्म एक से कैसे हो सकता है ? इसलिए एक को राजशक्ति दे देना और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्यों को निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है। इसलिए राजा मंत्रिमण्डल का निर्माण करे। स्वयं राजा उस मण्डल का सभापति होकर राजकर्मों में कुशल विद्वान् मंत्रियों के साथ निम्न लिखित छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करे। छ: गुण यथा—

१. सन्धि—अर्थात् किसी राष्ट्र से मित्रता करना।

२. विग्रह—अर्थात् किसी राष्ट्र से विरोध करना।

३. स्थिति—अर्थात् समय को देखकर चुपचाप रहना अथवा अपने राज्य की रक्षा करके बैठ रहना।

४. समुदाय—अर्थात् अपने राष्ट्र का जब उदय अर्थात् वृद्धि देखे तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना।

५. गुप्ति—अर्थात् राजसेना, कोषादि की रक्षा करना।

६. लब्धप्रशमन—अर्थात् जो देश विजय में प्राप्त हो उसमें शान्ति स्थापना करना और उसे उपद्रवरहित करना।

सभापति राजा को चाहिए कि वह मंत्रियों के पृथक्-पृथक् विचारों तथा अभिप्रायों को सुने और बहुपक्ष द्वारा निश्चित कार्यों को, जो कार्य अपना तथा अन्यों का हित करने वाले हों, करने लगे। आवश्यकता होने पर ऊपर कही संख्या से अधिक मंत्री भी राजा नियत करे। मंत्री पवित्रात्मा, बुद्धिमान्, निश्चित बुद्धिवाले, पदार्थों के संग्रह करने में अति चतुर तथा सुपरीक्षित हों। एकान्त स्थान में बैठकर, विरुद्ध भावना को त्यागकर, राजा मंत्रियों के साथ विचार किया करे तथा सभासदों की अनुमति से कार्य करे।

नगरसभा या म्युनिसिपैलिटी

बड़े-बड़े नगरों में विचार करनेवाली एक-एक सभा होनी चाहिए। इसका सभागृह सुन्दर, उच्च और विशाल बनाना चाहिए। इसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध—जिन्होंने कि विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो—बैठकर विचार किया करें। जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो, वैसे-वैसे नियम बनाया करें और नगर में विद्या का प्रकाश किया करें।

न्यायालय

मुख्य न्यायाधीश सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होना चाहिए। न्यायसभा में न्याय विचारपूर्वक होना चाहिए। न्याय-व्यवस्था के लिए न्यायालय में धार्मिक विद्वान्, निष्कपट, निर्लोभी और सत्यवादियों को ही साक्षी मानना चाहिए।

स्त्रियों की साक्षी स्त्रियां, द्विजों के साक्षी द्विज, शूद्रों के शूद्र और अन्त्यजों के अन्त्यज हुआ करें। बलात्कार के कामों तथा व्यभिचार आदि अपराधों में साक्षी की आवश्यकता नहीं, क्योंकि ये काम सब गुप्त होते हैं।

दोनों ओर के साक्षियों को सुन, बहुपक्षानुसार न्याय करना चाहिए। संख्या में तुल्य-तुल्य साक्षियों के होने पर उत्तमगुणी पुरुषों की साक्षी के अनुकूल फैसला देवें। यदि दोनों के साक्षी उत्तमगुणी तथा संख्या में तुल्य हों तो द्विजोत्तमों अर्थात् ऋषि, महर्षि और यतियों की साक्षी के अनुसार न्याय करें।

साक्षी यदि सत्य बोले तो उसे किसी प्रकार का दंड न मिलना चाहिए। साक्षी के असत्य बोलने पर जिह्वा-छेद का दंड भी मिल सकता है। जब वादी और प्रतिवादी के सामने, न्याय-सभा में साक्षी आवें तब न्यायाधीश और प्राड्विवाक् अर्थात् वकील या बैरिस्टर उन्हें सत्य बोलने का उपदेश देवें। झूठे साक्षियों को धन का दंड भी देना चाहिए। निर्धन होने की अवस्था में धन-दंड कम भी किया जा सकता है, परन्तु

धनिकों से धन-दंड तो दूना, तिगुना तथा चौगुना तक भी लेवें।

दंडनीय को प्रथम 'वाणी का दंड' देना चाहिए अर्थात् प्रथम उसकी निंदा करनी चाहिए। दूसरा 'धिक्-दंड' होना चाहिए, अर्थात् उसे धिक्कारना चाहिए। तीसरा 'धन-दंड' होना चाहिए। चौथा 'वध-दंड' होना चाहिए; अर्थात् कोड़े या बेंत लगाना चाहिए; या सिर तक भी काट देना चाहिए।

जिसका जितना ज्ञान और प्रतिष्ठा अधिक हो उसको अपराध में उतना ही दण्ड देना चाहिए।

यदि राजा, रानी अथवा न्यायाधीश या उसकी स्त्री कुकर्म करें तो उन्हें राजसभा दंड देवे, और प्रजा पुरुषों की अपेक्षा अधिक देवे। जब सब प्रजा, प्रधान राज्याधिकारी लोग और सभा धार्मिकता से राजा को भी दंड देना चाहें तो अकेला राजा कर ही क्या सकता है? क्योंकि न्याययुक्त दंड को ही राजा समझना चाहिए; किसी व्यक्ति-विशेष को नहीं।

शस्त्र, सेना और किला

राष्ट्र में आग्नेयादि अस्त्र, शतघ्नी अर्थात् तोप भुशुण्डी अर्थात् बन्दूक, धनुष, बाण तथा तलवार आदि शस्त्र शत्रुओं के पराजय करने और रोकने के लिए प्रशंसित तथा दृढ़ हों। राष्ट्र की सेना प्रशंसनीय हो, जिससे कि सदा विजय हो। सब सेना और सेनापतियों के ऊपर मुख्य सेनापति को स्थापित करना चाहिए।

स्थलयुद्ध के लिए रथों, अश्वों, हाथियों, पदातियों तथा शस्त्रास्त्रों का, जलयुद्ध के लिए नौकाओं और जहाज़ों का, आकाश-युद्ध के लिए विमानों का प्रबन्ध राजा करे। राजा सब राजपुरुषों को युद्ध-विद्या सिखावे। प्रतिदिन प्रातःकाल राजा सेनाध्यक्षों के साथ मिला करे और उन्हें हर्षित किया करे। सेना की कवायद और हाथी, घोड़ों तथा शस्त्रास्त्रों का सदा ख्याल रखा करे।

राजा राष्ट्र में किले भी बनाए क्योंकि उसमें स्थित हुआ एक भी धनुर्धारी शस्त्रयुक्त वीरपुरुष सौ के साथ और सौ पुरुष दस हज़ार के

साथ युद्ध कर सकते हैं। वे दुर्ग या किले, शस्त्रास्त्र, धन-धान्य, वाहन, कारीगर, नाना प्रकार की कलाओं, चारा, घास तथा जल आदि से परिपूर्ण होने चाहिए।

अपने सैनिकों के साथ व्यवहार

राजा सेनास्थ योद्धाओं को उस धन में से जो कि सबने मिलकर जीता हो सोलहवां भाग देवे और जो कोई युद्ध में मर गया हो उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे और उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे। जब उसके लड़के समर्थ हो जाएं तब उन्हें यथायोग्य अधिकार देवे। जो कोई अपने राज्य की वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनंद चाहता हो, वह इस मर्यादा का उल्लंघन कभी न करे।

वह अपनी सेना से शत्रु के बल का निग्रह करे, अर्थात् शत्रु को रोक लेवे और सेना की सेवा, सब यत्नों से, गुरु के सदृश नित्य किया करे। जिस समय युद्ध होता है उस समय लड़ने वालों को उत्साहित और हर्षित किया करे, और जब युद्ध बन्द हो जाए तब, जिससे युद्ध में शौर्य उत्साह बना रहे, वैसी वक्तृता करे, और सबके चित्त को खान-पान, सहायता और औषध से प्रसन्न रखे।

राजदूत

जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न, चतुर, पवित्र, हाव-भाव और चेष्टा से भीतरी हृदय की बात जाननेवाला, भविष्य में होनेवाली बात पूर्व ही समझने वाला तथा सब शास्त्रों में विशारद हो—उसे राजदूत बनाना चाहिए। जो राजकार्य में अत्यन्त उत्साही तथा उसमें अत्यंत प्रीति से लगे, जो निष्कपटी पवित्रात्मा हो, तथा बहुत समय की बात को भी न भूले, देश और काल का ज्ञाता हो, सुन्दर रूपयुक्त, निर्भय तथा उत्तम वक्ता हो—वह राजदूत होने में प्रशस्त है। राजदूत में फूट में मेल कराने तथा मिले हुए दुष्टों को तोड़-फोड़ देने का सामर्थ्य होना चाहिए। सभापति राजा सब विरोधी राज्य के सभासद् तथा राजदूत आदि का अभिप्राय ठीक-ठीक जानकर ऐसा प्रयत्न करे जिससे

कि अपने को पीड़ा न हो।

गुप्तचर

राष्ट्र में दो सभापति होने चाहिए। इनमें से एक राजसभा में कार्य किया करे और दूसरा अध्यक्ष आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कार्यों को सदा घूमकर देखता रहे। जो नित्य घूमनेवाला सभापति हो उसके अधीन सब गुप्तचरों को रखे। उनके द्वारा राजपुरुषों और प्रजा-पुरुषों के दोष और गुण गुप्त रीति से जाना करे। जिनका अपराध हो उनको दंड और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे।

राजकर्मचारी वर्ग

जितने मनुष्यों से कार्य सिद्ध हो सके, उतने आलस्यरहित बलवान् और बड़े-बड़े चतुर प्रधान पुरुषों को अधिकारी अर्थात् नौकर रखे। राजकार्य में विविध प्रकार के अध्यक्षों की सभा नियत करे। राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे, वे धार्मिक, सुपरीक्षित, विद्वान् तथा कुलीन होने चाहिए। इन अधिकारियों के अधीन शूरवीर, बलवान्, कुलीन तथा पवित्र भृत्यों को बड़े-बड़े काम और भीरु डरपोकों को भीतर के कामों में नियुक्त करे। साथ ही उन अधिकारियों के अधीन प्रायः शठ और पर-पदार्थ के हरनेवाले चोर-डाकुओं को भी वेतन पर नौकर रखे और इनके द्वारा प्रजा की रक्षा करे। अध्यक्षों का काम है कि वे देखते रहें कि अन्य राजपुरुष नियमानुसार यथावत् काम करते हैं या नहीं; जो यथावत् काम करें उनका सत्कार तथा जो विरुद्ध करें उन्हें यथावत् दंड दिया करें।

युद्ध में किन पर शस्त्रपात करना चाहिए?

युद्ध में इधर-उधर खड़े, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, सिर से खुले हुए बालोंवाले, बैठे हुए, शरणागत, सोते हुए, मूर्छित, नग्न, आयुध से रहित युद्धदर्शक, शत्रु के साथी, दुःखी, अत्यन्त घायल, आयुध के प्रहार से

पीड़ित, डरे हुए तथा पलायमान मनुष्यों को, सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए, योद्धा लोग कभी न मारें।

युद्ध में पकड़े गए शत्रु के साथ व्यवहार

युद्ध में हारे शत्रुओं को पकड़ ले। ज ।अच्छे हों उन्हें बन्दीगृह में रख दे और भोजन, आच्छादन यथावत् देवे। जो घायल हों उनकी औषधादि व्यवहार विधिपूर्वक करे। उन्हें न चिढ़ावे, न दुःख देवे। जो उनके योग्य काम हो करावे। इस बात पर विशेष ध्यान रखे कि स्त्री, बालक, वृद्ध, आहत तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनकी सन्तान को अपनी सन्तानवत् पाले और स्त्रियों को भी पाले, उनकी स्त्रियों को अपनी बहिन और कन्या के समान समझे। जब राज्य अच्छी प्रकार जम जाए तब जिनसे पुनः युद्ध करने की आशंका न रहे, उन्हें सत्कारपूर्वक छोड़कर उनके घर व देश भेज देवे, और जिनसे भविष्य में विघ्न होने की संभावना हो उन्हें सदा कारागार में रखे।

पराजित राजा और उसका राज्य

जो धार्मिक राजा हो उससे विरोध कभी न करे किन्तु उससे सदा मेल रखे। दुष्ट राजा चाहे प्रबल भी हो तो उसके विजय के लिए सब प्रकार से यत्न किया करे। शत्रु पर विजय पाकर उससे प्रतिज्ञादि लिखवा लेवे। जो उचित समय समझे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को विजित देश का राजा बना देवे और उससे लिखवा ले कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल—अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है उसके अनुसार चलकर न्याय से प्रजा का पालन करना होगा तथा उसके पास ऐसे पुरुष रखे जिससे कि पुनः उपद्रव होने की आशंका न रहे।

हारे हुए राजा का सत्कार अपने प्रधानपुरुषों समेत रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे। ऐसा कभी न करे जिससे कि उसका योगक्षेम न हो सके। यदि उसे बन्दीगृह में रखे तो उसको यथायोग्य रखे ताकि वह पराजय के शोक से रहित होकर आनन्द से रहे। उसे कभी चिढ़ाए

नहीं, न उसकी हंसी करे, न ठट्ठा और न उसके सामने कहे कि हमने तुमको पराजित किया है, किन्तु, 'आप हमारे भाई हैं' इत्यादि प्रकार से उसकी मान-प्रतिष्ठा सदा किया करे।

राजकर्मचारियों का वेतन

जो राजपुरुष अन्याय से, वादी-प्रतिवादी से, गुप्तधन लेकर पक्षपात से अन्याय करे—राजा उसका सर्वस्व हरण करे और उसे यथायोग्य दंड देकर ऐसे देश में रखे जहां से लौटकर वह पुनः न आ सके ताकि अन्य राजपुरुष ऐसा दुष्ट काम न करें। जितने से कर्मचारियों का योगक्षेम भली भांति हो और वे भली भांति धनाढ्य भी हो सकें, उतना धन व भूमि राज्य की ओर से मासिक, वार्षिक व एक बार में उन्हें मिला करे; और जो वृद्ध हो जाएं उनको भी आधा वेतन मिला करे। परन्तु राजा यह ध्यान में रखे कि जब तक राजकर्मचारी जीते रहें तब तक उन्हें वह जीविका मिलती रहे, पश्चात् नहीं। परन्तु इनकी मृत्यु के पश्चात् भी इनकी सन्तानों का सत्कार व नौकरी, सन्तान के गुणों के अनुसार अवश्य करे व देवे तथा जिसके बालक जब तक समर्थ न हों जाएं तब तक उनके निर्वाहार्थ, यदि स्त्री जीती हो तो उसके भी निर्वाहार्थ राज्य की ओर से यथायोग्य धन मिला करे। परन्तु यदि उसकी स्त्री व बालक कुकर्मी हो जाएं तो कुछ भी न मिला करे।

राज्य-कर

राजा वार्षिक कर आप्त पुरुषों के द्वारा ग्रहण किया करे। जिस प्रकार राजा, राजपुरुष व प्रजाजन सुखपूर्वक फल से युक्त हों, वैसा विचार कर राजा तथा राजसभा राज्य में 'कर' स्थापन करे। जैसे जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ ग्रहण करते हैं, वैसे ही राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेवे। राजा कर के उतने अंश का ही भोग करे जितना कि सभा उसके लिए नियत करे। राजा प्रजा से धन इस प्रकार लेवे कि जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें; क्योंकि प्रजा के धनाढ्य और नीरोग

होने तथा खान-पान आदि में सम्पन्न रहने से राजा की बड़ी उन्नति होती है। प्रजा को राजा अपनी सन्तान के सदृश सुख देवे। यह बात ठीक है कि राजाओं के किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है, प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा के राजपुरुष न हुआ करें।

सप्तम समुल्लास

ईश्वरविषय और वेदविषय

(१) ईश्वरविषय

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर दिव्य गुण, कर्म, स्वभाववाला और विद्यायुक्त है। इसमें पृथ्वी और सूर्यादि लोक स्थित हैं। यह आकाश के समान व्यापक है। देव अर्थात् महादेव है। सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कर्ता, न्यायाधीश तथा सबका अधिष्ठाता है। सब जगत् में व्याप्त और उसका नियन्ता है। सबसे पूर्व विद्यमान, सब जगत् का पति तथा सनातन जगत्कारण है। वह सूर्य के सदृश सब जगत् का प्रकाशक है। न जन्म लेता है, न मृत्यु को प्राप्त होता है। वेदों का प्रकाशक, कर्मफल का दाता, सुखस्वरूप, निराकारी, न्यायकारी, दयालु, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी जगत्स्वामी है।

ईश्वर की सत्ता में निम्नलिखित प्रमाण हैं :

ईश्वर की सत्ता

१—ईश्वर प्रत्यक्ष द्वारा भी जाना जाता है। प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जिसका कि ज्ञान इन्द्रिय द्वारा होता है। अब विचारना चाहिए कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष हुआ करता है, गुणी का नहीं। जैसे त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का प्रत्यक्ष होता है,

किन्तु पृथ्वी जो कि गुणी अर्थात् इन गुणों का आधार है उसका प्रत्यक्ष तो आत्मायुक्त मन से किया जाता है। इसी प्रकार इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना-विशेष आदि और ज्ञान आदि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष होता है।

२—जब आत्मा 'मन' और मन 'इन्द्रियों' को किसी विषय में लगाता व जिस क्षण में चोरी आदि बुरी या परोपकार आदि अच्छी बात का करना आरम्भ करता है, उसी क्षण में आत्मा के भीतर बुरे-भले काम के करने में 'भय-शंका' अथवा 'आनन्दोत्साह' उठता है। यह जीवात्मा की ओर से नहीं, अपितु परमात्मा की ओर से उठता है। इससे भी परमात्मा की सत्ता प्रतीत होती है।

३—इसी प्रकार जीवात्मा शुद्ध होकर जब परमात्मा के विचार करने में तत्पर रहता है, तब उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष हो जाते हैं, अर्थात् जीव और परमात्मा दोनों। परमात्मा की सत्ता में यह तीसरा प्रमाण है।

४—इसी प्रकार परमात्मा का भान, अनुमान, प्रमाण तथा वेदादि सत्यशास्त्रों द्वारा भी होता है। अनुमान, प्रमाण—जैसे कि किसी पदार्थ को देखकर दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है—एक जैसा यह पदार्थ है उसका, और दूसरा उसमें रचना-विशेष को देखकर उसके बनानेवाले का। जैसे किसी पुरुष ने कोई सुन्दर आभूषण जंगल में पाया तो विदित हुआ कि यह स्वर्ण का है और किसी बुद्धिमान् कारीगर ने इसे बनाया है। इसी प्रकार नाना प्रकार की रचनावाली सृष्टि भी अपने बनाने वाले परमेश्वर को सिद्ध करती है।

ईश्वर की व्यापकता

ईश्वर व्यापक है, वह किसी देश-विशेष में ही नहीं रहता; क्योंकि यदि एक देश में रहता है तो वह सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सबका स्रष्टा, सबका धर्ता नहीं बन सकता। अतः अप्राप्त देश में कर्ता की क्रिया होना असम्भव है।

ईश्वर दयालु और न्यायकारी है

प्रश्न उत्पन्न होता है, कि ईश्वर दयालु और साथ ही न्यायकारी कैसे हो सकता है ? क्योंकि ये दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं । जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाता है । क्योंकि न्याय का अभिप्राय है 'कर्मों के अनुसार सुख-दुःख पहुंचाना, न अधिक और न न्यून' और दया का अभिप्राय है 'अपराधी को बिना दण्ड दिये छोड़ देना ।' इसका उत्तर यह है कि न्याय और दया में नाम-मात्र ही भेद है क्योंकि जो प्रयोजन न्याय से सिद्ध होता है, वही दया से भी होता है । दण्ड देने का प्रयोजन यह है कि 'मनुष्य अपराध करने से हटकर दुःखों को प्राप्त न हो' तथा दया का प्रयोजन है, 'पराये दुःखों को छुड़ाना ।' जैसा अर्थ दया और न्याय के प्रश्न में किया गया है, वह ठीक नहीं। क्योंकि जिसने जैसा और जितना बुरा कर्म किया हो उसको वैसा और उतना ही दंड देना चाहिए —यही न्याय है । यदि अपराधी को दण्ड न दिया जाए तो दया का नाश हो जाएगा। क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देना मानो सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है । जब एक के छोड़ देने से सहस्रों पुरुषों को दुःख प्राप्त होता है, तो वह दया किस प्रकार की ? डाकू पर दया यही है कि उसे कारागार में रखकर पाप करने से बचाया जाए तथा उस डाकू को मार देना अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित करना है । देखो, ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि उसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रखे हैं । इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौनसी है ? और न्याय का फल तो प्रत्यक्ष ही दीख रहा है क्योंकि सुख-दुःख की व्यवस्था, अधिकता और न्यूनता से फल प्रकट कर रही है । दया और न्याय में इतना ही भेद है कि मन में सबके सुखी होने तथा दुःखों से छूट जाने की जो इच्छा और क्रिया करना है वह तो दया है और बाह्यचेष्टा अर्थात् जो बन्धन, छेदन आदि यथावत् दण्ड देना है, वह न्याय है । दोनों का एक ही प्रयोजन है और वह यह कि सबको पाप और दुःखों से पृथक् कर देना ।

ईश्वर की निराकारिता

ईश्वर निराकार है; क्योंकि यदि साकार होता तो व्यापक न होता। जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञत्वादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते। क्योंकि परिमित वस्तु में गुण,कर्म, स्वभाव भी परिमित रहते हैं। तथा ईश्वर यदि साकार हो तो उसके नाक, कान और आंख आदि अवयव होने चाहिए, और उन अवयवों का बनाने वाला उससे भिन्न कोई दूसरा चेतन होना चाहिए। क्योंकि जो कोई संयोग से उत्पन्न होता है उसे संयुक्त करनेवाला कोई निराकार चेतन अवश्य होता है। अतः सिद्ध हुआ कि ईश्वर निराकार है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है क्योंकि वह अपने कामों अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि करने तथा जीवों के पुण्य-पाप की यथोचित व्यवस्था करने में किसी की सहायता थोड़ी भी नहीं लेता; अर्थात् अपने सामर्थ्य से ही वह अपना सब काम पूर्ण कर लेता है।

ईश्वर अवतार नहीं लेता

वेदों में परमात्मा को 'अज' अकाय तथा 'अस्नाविर' कहा है। अज का अर्थ है जिसका जन्म नहीं होता। अकाय का अर्थ है जिसका कोई कार्य या देह नहीं अस्नाविर का अर्थ है जिसके स्नायु अर्थात् नस-नाड़ी नहीं है। इन तीनों शब्दों से प्रतीत होता है कि वैदिक सिद्धान्त में परमात्मा का जन्म अर्थात् शरीर होना असम्भव है। जब जन्म और शरीर ही नहीं तो उसका आकार कैसे बन सकता है ? साथ ही परमात्मा के अनन्त तथा सर्वव्यापक होने से उसका गर्भ या शरीर में आना तथा शरीर छोड़कर जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। आना तथा जाना वहां हो सकता है जहां कि वह वस्तु न हो। क्या ईश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया ? और क्या वह बाहर नहीं था जो भीतर से निकला ? इसलिए परमेश्वर का आना अर्थात जन्म तथा मरण नहीं हो सकता। इसलिए राम और कृष्ण

आदि ईश्वर के अवतार नहीं थे। अपितु राग, द्वेष, क्षुधा, तृषा, भय, शोक, दु:ख, सुख, जन्म और मरण आदि गुणों से युक्त होने के कारण वे मनुष्य ही थे।

ईश्वर पाप क्षमा नहीं करता

ईसाई और मुसलमान लोग मानते हैं कि ईसा पर विश्वास लाने या तोबा करने से परमात्मा उनके पापों को क्षमा कर देता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं। क्योंकि परमात्मा यदि पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाए और सब मनुष्य महापापी हो जाएं क्योंकि क्षमा की आशा से पापी पाप करने में निर्भयता और उत्साह अनुभव करेंगे। इसलिए सब कर्मों का यथावत् फल देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।

ईश्वर में इच्छा है अथवा नहीं ?

जैसी इच्छा जीव में है वैसी ईश्वर में नहीं; क्योंकि इच्छा उस वस्तु की होती है जो अप्राप्त हो, उत्तम हो तथा जिसकी प्राप्ति से सुख-विशेष हो। ईश्वर को कोई वस्तु अप्राप्त नहीं और न कोई उससे उत्तम है, तथा ईश्वर के पूर्ण सुखयुक्त होने से उसे सुख की अभिलाषा नहीं, इसलिए ईश्वर में इच्छा की सम्भावना नहीं।

जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?

अपने कर्त्तव्य-कर्मों में जीव स्वतन्त्र है, और ईश्वर की व्यवस्था में वह परतन्त्र है। जिसके अधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्त:-करण आदि हों उसे स्वतन्त्र कहते हैं। जीव यदि स्वतन्त्र न हो तो उसे पाप-पुण्य का फल कभी प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे सेनापुरुष सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा द्वारा युद्ध में अनेक पुरुषों को मारकर अपराधी नहीं होते वैसे ही जीव यदि परमात्मा की प्रेरणा से अथवा उसकी अधीनता में सब कार्य करें तो जीव को पाप व पुण्य नहीं लगना चाहिए। इसमें दूसरा दृष्टांत यह है कि मानो किसी मनुष्य

ने शस्त्र-विशेष से किसी को मार डाला तो वही मारनें वाला ही पकड़ा जाता है, और वही उसका दण्ड भी पाता है; शस्त्र नहीं। इसलिए अपनी सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है, परन्तु जब वह कर्म कर चुका तो परमात्मा की व्यवस्थानुसार उसके फल भोगने में वह परतन्त्र है।

जीव और ईश्वर का स्वरूप

जीव और ईश्वर दोनों चेतन हैं, दोनों का स्वभाव पवित्र है, दोनों अविनाशी हैं तथा धार्मिकता आदि गुणों में युक्त हैं। परन्तु इनमें परस्पर भेद भी हैं। यथा—

१—सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करना, सबको नियम में रखना तथा जीवों को पाप-पुण्य के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म परमेश्वर के हैं; तथा जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन-पोषण तथा शिल्प-विद्या आदि अच्छे और बुरे कर्म हैं।

२—ईश्वर के नित्य ज्ञान, आनन्द और अनन्त बल आदि गुण हैं तथा जीव के इच्छा, द्वेष, सुख तथा दुःख आदि गुण हैं।

३—जीव अल्प परिमाणी तथा अल्पज्ञ है और ब्रह्म सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ है।

४—ब्रह्म नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध और नित्यमुक्त स्वभाव है। तथा जीव कभी बुद्ध होता और कभी मुक्त होता है।

५—ब्रह्म के सर्वव्यापक और सर्वज्ञ होने से उसे कभी भ्रम अथवा अविद्या नहीं हो सकती, परन्तु जीव को कभी तो विद्या और कभी अविद्या होती है।

६—ब्रह्म जन्म-मरण के दुःख को कभी प्राप्त नहीं होता और जीव प्राप्त होता है।

जीव और ईश्वर का परस्पर सम्बन्ध

जिस स्थान में एक वस्तु होती है उस स्थान में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती। इसलिए जहां जीव है वहां ईश्वर की सत्ता कैसे हो सकती

है ? इसका उत्तर यह है कि यह नियम समान आकारवाले पदार्थों में घट सकता है, असमान आकारवाले पदार्थों में नहीं। जैसे लोहा स्थूल और अग्नि सूक्ष्म होती है, इसलिए लोहे में विद्युत्-रूपी अग्नि व्यापक हो रहती है, इसी प्रकार चूंकि जीव परमेश्वर से स्थूल है और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म है इसलिए परमेश्वर व्यापक है और जीव व्याप्य। अतः ये दोनों एक ही अवकाश में रह सकते हैं।

ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना

स्तुति आदि के करने से ईश्वर यद्यपि अपना नियम छोड़कर स्तुति, प्रार्थना और उपासना के करनेवाले का पाप स्वयं नहीं छुड़ा देता, तो भी इनसे यह लाभ अवश्य होता है कि स्तुति से ईश्वर में प्रीति उत्पन्न होती है और स्तुति करनेवाला ईश्वर के आदर्श गुण-स्वभाव से अपने गुण, कर्म, स्वभाव को सुधार सकता है।

इसी प्रकार प्रार्थना से निरभिमानता होती है, उत्साह प्राप्त होता है और परमात्मा की सहायता मिलती है।

उपासना द्वारा परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होता है।

स्तुति के दो प्रकार

स्तुति दो प्रकार की है : एक सगुण और दूसरी निर्गुण। तू शुद्ध है, सर्वज्ञ है, अन्तर्यामी है, सनातन है, स्वयंसिद्ध है—इस प्रकार की स्तुति सगुण स्तुति कहलाती है। क्योंकि इस प्रकार की स्तुति में परमात्मा के उन गुणों का वर्णन किया जाता है जिन गुणों के साथ परमात्मा विद्यमान है। तू शरीर-रहित है, मृत्यु-रहित है, पाप से विद्ध नहीं है, आकार-रहित है—इस प्रकार की स्तुति निर्गुण स्तुति कहलाती है। क्योंकि इस प्रकार की स्तुति में शरीर, मृत्यु, पाप और आकार आदि गुणों से परमेश्वर को पृथक् मानकर उसकी स्तुति की जाती है। स्तुति करनेवाले को चाहिए कि वह अपने गुण, कर्म, स्वभाव को परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश बनाने का यत्न करता रहे। यदि वह भांड के समान ही परमात्मा के गुण-कीर्तन करता जाएगा

और अपने चरित्र को न सुधारेगा तो उसका स्तुति करना व्यर्थ है।

प्रार्थना के दो प्रकार

प्रार्थना भी निर्गुण और सगुण रूप से दो प्रकार की होती है। भक्त, परमेश्वर को जिस दोष या दुर्गुण से पृथक् जानता है उससे अपने-आपको भी पृथक् रखने की प्रार्थना निर्गुण प्रार्थना कहलाती है, और परमात्मा को वह जिस सद्गुण से युक्त जानता है, उस सद्गुण से अपने-आपको भी युक्त करने की प्रार्थना को सगुण प्रार्थना कहते हैं।

प्रार्थना और यत्न

जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है, उसे वैसा व्यवहार भी करना चाहिए जैसे कोई सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना करता है, तो उसे चाहिए कि वह जितना अपने से प्रयत्न हो सके अपनी बुद्धि को सर्वोत्तम बनाता भी रहे अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त परमेश्वर से प्रार्थना करना उचित है। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष की सहायता दूसरा भी करता है, वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष की सहायता ईश्वर भी करता है। जो कोई 'गुड़ मीठा है' ऐसा कहता है उसको कहने मात्र से गुड़ या उसका स्वाद कभी प्राप्त नहीं होता, और जो उसके लिए यत्न करता है उसको शीघ्र या विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है। साथ ही परमात्मा से ऐसी भी प्रार्थना न करनी चाहिए—हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश करो, मुझको सबसे बड़ा करो, मेरी ही प्रतिष्ठा हो और मेरे अधीन सब हो जाएं, इत्यादि। ऐसी प्रार्थना परमात्मा स्वीकार नहीं करता; क्योंकि परमात्मा उपकार करने की प्रार्थना में तो सहायक होता है, हानिकारक कर्मों में नहीं।

उपासना के दो प्रकार

उपासना भी दो प्रकार की है—सगुण और निर्गुण। सर्वज्ञत्वादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी सगुणोपासना है, और

द्वेष, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श आदि गुणों से परमेश्वर को पृथक् मानकर उसमें दृढ़स्थित हो जाना निर्गुणोपासना है। उपासना का अर्थ है—'समीप स्थित होना।' अष्टांगयोग द्वारा जीव परमात्मा के समीप स्थित हो जाता है। जब उपासना करना चाहे तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर आसन लगा, प्राणायाम कर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभि प्रदेश व हृदय, कण्ठ, नेत्र और शिखा में अथवा पीठ की हड्डी के मध्यस्थान में स्थित कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो जाए। इस प्रकार इसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है और वह नित्यप्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुंच जाता है। जो आठ प्रहर में एक घड़ी-भर इस प्रकार ध्यान करता है वह सदा उन्नति को प्राप्त होता है।

उपासना का फल

उपासना का फल यह है कि जैसे शीत से आतुर पुरुष का शीत अग्नि के पास जाने से निवृत्त हो जाता है वैसे ही ईश्वर के समीप स्थित होने से जीव के सब दोष-दुःख छूट जाते हैं और जीव परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश पवित्र गुण, कर्म स्वभाववाला हो जाता है। साथ ही आत्मा का बल इतना बढ़ जाता है कि पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी मनुष्य घबराता नहीं; तथा जो परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता वह कृतघ्न महामूर्ख भी है। क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ हमारे सुखों के लिए दे रखे हैं उसका गुण और उपकार भूल जाना ही ईश्वर को न मानने के समान है; यही कृतघ्नता और मूर्खता है।

उपासना की तैयारी

उपासना की तैयारी का प्रारम्भ यमों और नियमों से होता है। यमों के सम्बन्ध में योगदर्शन का निम्नलिखित सूत्र है। यथा—

अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमाः।

योगदर्शन, साधनपाद, सू० ३०

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच यम हैं। इनका अभिप्राय निम्नलिखित है। यथा—

१. अहिंसा—किसी से वैर न रखना, सर्वथा सबसे प्रीति करना

२. सत्य—सत्य बोलना, मिथ्या कभी न बोलना

३. अस्तेय—चोरी न करना, सत्य व्यवहार करना

४. ब्रह्मचर्य—जितेन्द्रिय होना, लम्पट न होना

५. अपरिग्रह—निरभिमानी होना, अभिमान न करना

इसी प्रकार नियमों के सम्बन्ध में योगदर्शन का सूत्र निम्नलिखित है यथा—

शौचसन्तोषतप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

योगदर्शन, साधनपाद, सू० ३२

अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान, ये पांच नियम हैं। इनका अभिप्राय निम्नलिखित है। यथा—

१. शौच—राग और द्वेष छोड़ भीतर मन और आत्मा को तथा जल आदि से बाहरी शरीर को पवित्र रखना।

२. सन्तोष—धर्म से पुरुषार्थ करते हुए लाभ में न प्रसन्नता करनी और न हानि नें अप्रसन्नता।

३. तप—प्रसन्न होकर तथा आलस्य छोड़कर सदा पुरुषार्थ करना। सुख-दु:खों का सदा सहन तथा धर्म का अनुष्ठान करना अधर्म का नहीं।

४. स्वाध्याय—सर्वदा सत्यशास्त्रों को पढ़ना-पढ़ाना।

५. ईश्वरप्रणिधान—अपने आपको परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देना।

इन यमों का तथा नियमों का साथ-साथ अभ्यास करना चाहिए। इनके अभ्यास से उपासना प्रारम्भ होती है।

(२) वेदविषय

चारों वेदों का कर्ता

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन चारों वेदों का कर्ता ईश्वर है। अथर्ववेद के दसवें काण्ड में निम्नलिखित मन्त्र पढ़ा गया है जिससे उपर्युक्त कथन की साक्षी मिलती है। यथा—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अथर्व० १०।७।२०॥

इसका अर्थ यह है कि जिससे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद प्रकट हुआ है, वह स्तम्भ है, अर्थात् सब संसार का आधार है। कई लोग कहते हैं कि वेदों में हर एक सूक्त के आरम्भ में जो ऋषि लिखे रहते हैं उन्होंने ही वे-वे सूक्त बनाए हैं परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि वे ऋषि मन्त्रों के बनाने वाले नहीं होते अपितु उन-उन सूक्तों तथा मन्त्रों के अर्थद्रष्टा हैं।

वेदों के उपदेश का प्रकार

परमेश्वर निराकार है—उसका कोई मुख नहीं। तो बिना मुख उसनें वेद के वर्णों का उच्चारण कैसे किया? क्योंकि वर्णों के उच्चारण में तालु आदि स्थान तथा जिह्वा का प्रयत्न आवश्यक है। इसका उत्तर यह है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् तथा सर्वव्यापक है। इसलिए जीवों को वेद-विद्या का उपदेश देने में उसे मुख आदि अवयवों की कोई आवश्यकता नहीं। परमेश्वर सर्वव्यापक है, वह जीवों के भीतर भी अन्तर्यामी रूप में स्थित है। अतः वह अखिल वेद-विद्या का उपदेश, जीव में स्थित होने के कारण, बिना मुख द्वारा बोले जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है।

परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों द्वारा चार वेद प्रकट किए। अग्नि द्वारा ऋग्वेद, वायु द्वारा यजुर्वेद, सूर्य द्वारा सामवेद तथा अंगिरा द्वारा अथर्ववेद उसने प्रकट किया। चूंकि ये ही

चार ऋषि सब जीवों से अधिक पवित्रात्मा थे इसलिए पवित्र विद्या का प्रकाश भी इन्हीं चारों के द्वारा हुआ।

वेदों की आवश्यकता

प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि वेदों के ईश्वर से उत्पन्न होने की आवश्यकता ही क्या है ? क्योंकि मनुष्य क्रमशः ज्ञान बढ़ाते-बढ़ाते पश्चात् पुस्तक-रचना भी कर ही लेंगे ? इसका उत्तर यह है कि बिना ईश्वरीय ज्ञान की सहायता के मनुष्य कभी पुस्तक-रचना नहीं कर सकते। क्योंकि जंगली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी स्वयं विद्वान् नहीं होते और शिक्षक के मिल जाने पर वे भी विद्वान् हो जाते हैं। तथा यह भी हम देखते हैं कि वर्तमान काल में भी किसी से बिना पढ़े कोई विद्वान् नहीं होता। इसलिए परमात्मा यदि आदि सृष्टि के ऋषियों को वेद-विद्या न देता और वे ऋषि अन्य को यदि न पढ़ाते तो सब लोग अविद्वान् ही रह जाते। किसी बालक को यदि जन्म से ही एकान्त देश में या अविद्वानों व पशुओं के संग में रख दिया जाए तो वह जैसा संग होगा वैसा ही हो जाएगा। इसका दृष्टान्त जंगली भील आदि हैं। जब तक आर्यावर्त देश से बाहर शिक्षा नहीं गई तब तक मिस्र, यूनान तथा यूरोप आदि देशों के मनुष्यों में कुछ भी शिक्षा न थी। इसी प्रकार कोलम्बस आदि पुरुष अमेरिका में जब तक नहीं गए थे, तब तक वहां के निवासी भी सहस्रों, लाखों और करोड़ों वर्षों से मूर्ख अर्थात् विद्याहीन ही चले आते थे और पुनः सुशिक्षा पाने से वे भी विद्वान् हो गए हैं। इससे समझना चाहिए कि सृष्टि के आदि में परमात्मा से विद्या और सुशिक्षा पाकर ही मनुष्य उत्तरोत्तर काल में विद्वान् होते चले आ रहे हैं।

अष्टम समुल्लास

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय

जगत् की पूर्वावस्था

यह सब जगत् उत्पत्ति से पूर्व अर्थात् प्रलयावस्था में अन्धकार से आवृत था। उस समय न पृथ्वी थी, न आकाश और न द्युलोक। सूर्यादि कोई भी पदार्थ उस समय न था जो प्रकाश करता तथा जो कि प्रकाशित होता। मनुष्य, पशु, पक्षी तथा कीट, पतंग और वृक्षादि—यह सब प्राणी-जगत् भी उस समय न था। उस समय केवल तीन ही पदार्थ थे। एक प्रकृति, दूसरा जीव तथा तीसरा ब्रह्म। प्रलय में भी तीनों पदार्थ विद्यमान थे, चूंकि ये अनादि और अनन्त हैं; अर्थात् न उत्पन्न हुए और न नष्ट होते हैं। इसमें प्रमाण निम्नलिखित मन्त्र है। यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

ऋग्वेद १।१६४।२०॥

इस मन्त्र में दो सुपर्णों द्वारा जीव और ब्रह्म का वर्णन किया है और वृक्ष द्वारा प्रकृति का।

जगत् की उत्पत्ति का कारण

जगत् की उत्पत्ति के तीन कारण हैं। एक निमित्त कारण, दूसरा उपादान कारण और तीसरा साधारण कारण। निमित्त कारण उसे कहते हैं जिसके कि बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने तथा आप स्वयं बने नहीं और दूसरे को प्रकारान्तर से बना देवे। यह निमित्त कारण दो प्रकार का होता है, एक मुख्य और दूसरा गौण। सृष्टि को कारण से बनाने, उसकी स्थिति तथा प्रलय करने और उस सबकी व्यवस्था रखनेवाला मुख्य निमित्त कारण परमात्मा है तथा सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेक विधि कार्यान्तर बनाने वाला गौण निमित्त

कारण जीव है। दूसरा कारण उपादान कारण है। उपादान कारण उसे कहते हैं जिसके बिना कुछ न बने तथा वही अवस्थान्तर होकर बिगड़े और बने। जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। इसे संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं। यह जड़ होने से स्वयं संसार रूप से प्रलय रूप में नहीं आ सकती है, किन्तु परमात्मा के प्रयत्न द्वारा ही यह इन कार्यों को करती है। कहीं-कहीं जड़ से जड़ बन और बिगड़ भी जाते हैं। जैसे परमेश्वर के द्वारा रचित बीज पृथ्वी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं और अग्नि आदि जड़पदार्थ के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं। परन्तु उसका नियमपूर्वक बनना व बिगड़ना परमेश्वर और जीव के ही अधीन है।

जगत् की उत्पत्ति में तीसरा कारण है—साधारण कारण। साधारण कारण उसे कहते हैं जो कि बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो। जगत् के बनाने में परमात्मा का ज्ञान, दर्शन और बल तथा दिशा, काल और आकाशादि—ये सब साधन तथा साधारण निमित्त कारण हैं।

परमात्मा और जगत् में भेद

कई लोग कहते हैं कि यह जगत् परमात्मा से बना है जैसे कि घड़ा मिट्टी से बनता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि घड़ा मिट्टी से बनता है तो घड़े में मिट्टी के गुण, धर्म भी आ जाते हैं। इसी कारण जगत् यदि परमात्मा का विकार होता तो जगत् में भी परमात्मा के गुण, धर्म होते। जगत् में परमात्मा के गुण, धर्म नहीं हैं, इसे दर्शाने के लिए यहां जगत् और परमात्मा के गुणों की तुलना की जाती है। यथा—

१—परमात्मा सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है, परन्तु जगत् कार्यरूप से असत् अर्थात् सदा न रहनेवाला, जड़ और आनन्दरहित है।

२—परमात्मा अज अर्थात् उत्पन्न नहीं होता और जगत् उत्पन्न हुआ है।

३—परमात्मा अदृश्य है और जगत् दृश्य।
४—परमात्मा अखंड है और जगत् के खंड हो सकते हैं।
५—परमात्मा विभु है और जगत् परिच्छिन्न।

जगत् के बनाने में परमेश्वर का प्रयोजन

जगत्-रचना में परमात्मा के निम्नलिखित प्रयोजन हैं। यथा,

१—परमात्मा यदि जगत् की रचना न करता तो जीव प्रलय में निश्चेष्ट पड़े रहते और जगत् के सुखों से वंचित रहते।

२—जगत् होने से ही बहुत-से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधनों का अनुष्ठान कर मोक्ष के आनंद को प्राप्त होते हैं। जगत् के न बनने पर वे ही प्रलय में निकम्मे तथा सुषुप्ति की-सी अवस्था में पड़े रहते हैं।

३—पूर्व सृष्टि में किए पाप-पुण्यों के फल, जीवों को परमात्मा विना जगत् के रचे कैसे दे सकता?

४—तथा यदि कोई पूछे कि आंख के होने का क्या प्रयोजन है तो इसका उत्तर यही दिया जाएगा कि 'देखना' क्योंकि इसी प्रकार आंख में जो देखने की सामर्थ्य है वह सफल होता है। इसी प्रकार ईश्वर में भी जगत् के रचने का विज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं। वे गुण तभी सफल हो सकते हैं जब कि वह जगत् की रचना करे अन्यथा किसी प्रकार से वे गुण सफल नहीं हो सकते।

५—इसी प्रकार परमात्मा के स्वाभाविक गुण अर्थात् न्याय, दया, वात्सल्य तथा परोपकार आदि भी जगत् की रचना करने पर ही सफल होते हैं अन्यथा नहीं।

निराकार ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति

जगत् के उत्पादन के लिए ईश्वर को साकार मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि ईश्वर साकार होता तो वह जगत् का निर्माण ही न कर सकता। जैसे तुम और हम साकार हैं अर्थात् शरीरधारी हैं, इसलिए अणु, परमाणु और प्रकृति को अपने वश में

नहीं ला सकते; वैसे ही स्थूल देहधारी परमेश्वर भी उन सूक्ष्म पदार्थों से स्थूल जगत् न बना सकता। इसलिए परमेश्वर अपनी अनंत शक्ति, बल और पराक्रम द्वारा सब कार्य करता है जो कि जीव और प्रकृति से कभी हो ही नहीं सकते। चूंकि देहधारी न होने से परमात्मा प्रकृति से भी सूक्ष्म और उसमें व्यापक है, अतः वह प्रकृति को पकड़कर जगदाकार कर देता है; जो साकार अर्थात् शरीरयुक्त होता तो यह ईश्वर ही न होता। क्योंकि शरीरधारी परिमित शक्तिवाला, देशकाल से परिच्छिन्न, क्षुधा, तृषा, शीतोष्ण, ज्वर तथा पीड़ा आदि से युक्त रहता है; और जो इनसे युक्त है वह ईश्वर कैसा? इसलिए परमेश्वर शरीर धारण नहीं करता अर्थात् वह निराकार ही जगत् के निर्माण का सामर्थ्य रखता है।

ईश्वर की आवश्यकता

प्रश्न उत्पन्न होता है कि जगत्कर्ता ईश्वर के मानने की आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि यह जगत् अनादिकाल से जैसा का तैसा है, न कभी इसकी उत्पत्ति हुई और न कभी विनाश। जब जगत् की उत्पत्ति और विनाश ही नहीं है तो जगत् के उत्पादक और प्रलयकर्ता के मानने की आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर यह है कि पृथ्वी आदि पदार्थों में चूंकि संयोग-विशेष से रचना दीखती है, अतः ये पदार्थ अनादि नहीं हो सकते तथा जो पदार्थ संयोग से बनता है वह संयोग के पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में रहता भी नहीं—ऐसा अवश्य मानना होगा। इसमें प्रमाण के लिए कि पृथ्वी आदि पदार्थ संयोग से बने हैं; कठिन से कठिन पत्थर, हीरे या फौलाद के एक टुकड़े को लो और इसे तोड़कर, भस्मकर या गलाकर देखो कि इनमें अवयव पृथक्-पृथक् मिले हैं या नहीं? यदि मिले हैं तो ये पदार्थ संयोग से उत्पन्न हुए हैं—ऐसा मानना ही होगा। इस प्रकार पृथ्वी आदि पदार्थ जब अनादि और अनन्त सिद्ध न हुए तो इनकी उत्पत्ति तथा प्रलय के लिए किसी चेतनकर्ता का मानना भी आवश्यक हो जाता है, और वह चेतनकर्ता ईश्वर ही है।

कल्पान्तर में सृष्टि एक जैसी ही उत्पन्न होती है

यह सृष्टि जैसा कि अब है, वैसी ही पहले थी और आगे भी होगी, इसमें भेद नहीं होता। इस सम्बन्ध में प्रमाण निम्नलिखित है। यथा—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिव च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ऋग्वेद १०।१९०।३॥

इसका अभिप्राय यह है कि परमेश्वर ने जैसे पूर्व कल्प में सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष आदि बनाए थे, वैसे ही उसने अब भी बनाए हैं और आगे भी ऐसे ही बनाएगा; क्योंकि परमेश्वर सर्वज्ञ है, उसके काम बिना भूल-चूक के होने से सदा एक से ही हुआ करते हैं और जो अल्पज्ञ है अर्थात् जिसके ज्ञान में वृद्धि तथा क्षय होता रहता है उसी के कामों में भूल-चूक होती है, ईश्वर के काम में नहीं। अत: सृष्टि-प्रवाह से अनादि है अर्थात् सदा एक-सी रहती है।

सृष्टि प्रवाह से अनादि है

इस सृष्टि का न तो कभी आरम्भ हुआ और न कभी अन्त होगा। जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के पीछे सृष्टि—यह चक्र भी अनादिकाल से चला आता है, उसका आदि और अन्त नहीं होता। परन्तु जैसे व्यक्तरूप में प्रत्येक दिन और रात का आदि और अन्त दृष्टिगोचर होता है, परन्तु प्रवाह-रूप से नहीं होता, इसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि और प्रत्येक प्रलय का भी आदि और अन्त तो विद्यमान है, परन्तु प्रवाहरूप से नहीं। प्रवाह के लिए नदी का दृष्टांत बहुत उपयुक्त है। जैसे नदी का प्रवाह सूख जाता है तो नहीं दीखता, फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता, ऐसे व्यवहारों को प्रवाहरूप जानना चाहिए। जैसे परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव अनादि हैं, वैसे ही उसका जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करना भी अनादि है। जैसे ईश्वर के गुण, कर्म,

स्वभाव का कभी आरम्भ और अन्त नहीं ; इसी प्रकार उसके कर्तव्य कर्मों का भी कभी अन्त नहीं होता।

मनुष्य-सृष्टि

प्रथम तो पृथ्वी आदि की सृष्टि हुई और तत्पश्चात् मनुष्यों की। क्योंकि पृथ्वी आदि की सृष्टि के बिना मनुष्य की स्थिति तथा उसका पालन-पोषण ही नहीं हो सकता तथा सृष्टि के आदि में एक ही मनुष्य उत्पन्न न हुआ था, अपितु अनेक मनुष्य उत्पन्न हुए थे। जिन-जिन जीवों के कर्म इस प्रकार के थे कि वे सृष्टि के आदि में उत्पन्न हों उन्हें परमात्मा ने आदि में ही जन्म दिया। सृष्टि में देखने से भी प्रतीत होता है कि मनुष्य अनेक मां-बाप की सन्तानें हैं, एक मां-बाप की नहीं।

साथ ही यह भी जानना चाहिए कि आरम्भ में जो मनुष्य उत्पन्न हुए थे वे युवावस्था के ही उत्पन्न हुए थे, क्योंकि यदि बालक उत्पन्न होते तो उनके पालन-पोषण के लिए दूसरे मनुष्य आवश्यक थे और जो वृद्धावस्था में होते तो उनकी सन्तान आगे न चल सकती।

मनुष्य-सृष्टि का आदिस्थान तथा आर्यावर्त

मनुष्य की आदिसृष्टि त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में हुई थी। कालान्तर में इनमें आर्य और दस्यु—दो भेद हो गए। श्रेष्ठ, विद्वान् तथा धर्मात्मा मनुष्यों को देव या आर्य कहा जाने लगा और दुष्ट, मूर्ख तथा अधर्मात्माओं को असुर या दस्यु। इन आर्यों और दस्युओं में प्राय: लड़ाई-दंगा हुआ करता था। अन्तत: आर्यों ने भारत-भूमि को भूगोल में से सर्वश्रेष्ठ भूखण्ड जानकर वहां अपना पदार्पण किया। इसीलिए इस भारत-भूमि का नाम आर्यावर्त हुआ।

चन्द्र और तारा आदि में मनुष्य-सृष्टि तथा वैदिक ज्ञान

जैसे पृथ्वी-लोक पर मनुष्य-सृष्टि है, वैसे चन्द्र और तारों आदि में भी मनुष्य-सृष्टि है; इसीलिए वेदों में चन्द्र, तारा आदि को वसु

कहा है। वसु का अर्थ है कि जिसमें मनुष्य बसें। जब परमेश्वर का यह छोटा सा पृथ्वीलोक मनुष्य आदि सृष्टि से भरा हुआ है तब तारा आदि सब लोक शून्य कैसे हो सकते हैं? परमेश्वर का कोई भी काम जब निष्प्रयोजन नहीं होता तो इतने असंख्य तारा आदि लोक मनुष्यादि सृष्टि के बिना सप्रयोजन कैसे हो सकते हैं? इसलिए सर्वत्र मनुष्य-सृष्टि है। यह सम्भव है कि अन्य लोकों में इस पृथ्वी-लोक की अपेक्षा मनुष्यादि सृष्टि के आकार तथा रूप-रंग में कुछ भेद हो। जैसे इस लोक में भी चीन, भारत तथा यूरोप आदि देशों में आकृति, रूप-रंग तथा अवयव-सन्निवेश में भी थोड़ा-बहुत भेद पाया जाता है, इसी प्रकार लोक-लोकान्तरों में भी भेद होते हैं। परन्तु जिस किसी जाति की जैसी सृष्टि इस लोक में है उस जाति की वैसी सृष्टि ही अन्य लोकों में भी है; अर्थात् इस लोक में जिस जाति के शरीर के जिस-जिस प्रदेश में जो-जो नेत्रादि अंग हैं अन्य लोकों में भी उस-उस जाति के शरीर के उसी-उसी प्रदेश में वे-वे अंग होते हैं। इसी प्रकार जिन वेदों का इस लोक में प्रकाश है, उन्हीं वेदों का अन्य लोकों में भी प्रकाश है। जैसे एक राजा की राज्यव्यवस्था की नीति उसके राज्य के सब देशों में समान रूप से होती है, इसी प्रकार राजराजेश्वर परमात्मा की वेदोक्त नीति उसके सृष्टिरूप सब राज्य में एक-सी है।

पृथ्वी घूमती है

वेदों का यह सिद्धान्त है कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, सूर्य पृथ्वी के चारों ओर नहीं घूमता। इसमें निम्नलिखित प्रमाण है। यथा—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ यजु० ३।६॥

इसका अर्थ यह है कि वह पृथ्वी जलसहित सूर्य के चारों ओर घूमती है। इस मन्त्र में पृथ्वी का नाम गौ आया है और गौ का अर्थ है घूमनेवाली। पृथ्वी का यह घूमना सूर्य की आकर्षण शक्ति के कारण है। वेदों के सिद्धान्त में सूर्य स्थिर भी है और गति भी करता है।

सूर्य चूंकि पृथ्वी के चारों ओर नहीं घूमता, अतः वह स्थिर है, और चूंकि वह अपने केन्द्र के इर्द-गिर्द घूमता है, अत: वह गतिमान् भी है। क्योंकि कोई भी भारी पदार्थ आकाश में बिना घूमे एक नियत स्थान पर स्थिर नहीं रह सकता।

पृथ्वी का धारण कौन करता है ?

कोई कहता है कि शेष, अर्थात् सहस्र फनवाले, सांप के सिर पर पृथ्वी खड़ी है और कोई कहता है कि बैल के सींग पर खड़ी है। इसी प्रकार अन्य मतवादी भी भिन्न-भिन्न वस्तु को पृथ्वी का आधार मानते हैं। परन्तु यह सब विचार भ्रमात्मक हैं। यदि सांप और बैल पर पृथ्वी स्थित है, तो सांप और बैल के जन्म से पूर्व पृथ्वी किस पर स्थिर थी ? वे सांप और बैल स्वयं किस पर स्थिर हैं ? जो लोग शेष के फणों पर पृथ्वी का स्थिर होना मानते हैं वे शेष के वास्तविक अर्थ को न जानकर भ्रम में पड़े हैं। शेष का वास्तविक अर्थ है—परमात्मा जो कि जगत् के प्रलय के पश्चात् भी शेष रहता है। इसी प्रकार,

उक्षा दाधार पृथिवीमुत द्याम् ॥ ऋग्वेद ॥

इस वचन में 'उक्षा' ने पृथ्वी और द्युलोक को धारण किया हुआ है, ऐसा कहा है। किसी ने इस मन्त्र में उक्षा शब्द देख बैल का अर्थ समझ लिया होगा, क्योंकि उक्षा का अर्थ बैल भी होता है। परन्तु इस मन्त्र में उक्षा का अर्थ बैल नहीं, अपितु सूर्य है। सूर्य वर्षा द्वारा भूगोल का सिंचन करता है, अतः वह उक्षा है। सोचना चाहिए कि बैल में पृथ्वीलोक और द्युलोक के धारण करने का सामर्थ्य कहां है ? सूर्य ने तो अपने आकर्षण द्वारा पृथ्वी को धारण किया है, परन्तु पृथ्वी और सूर्य आदि सबका धारण करनेवाला अंत में परमात्मा ही पृथ्वी और सूर्य आदि लोकों को धारण किये हुए है। इस सम्बन्ध में वेद का प्रमाण है। यथा—

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् ॥ यजु० १३।४॥

अर्थात् उस परमात्मा ने ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक को धारण किया हुआ है।

नवम समुल्लास

विद्या, अविद्या बन्ध और मोक्ष

विद्या और अविद्या

विद्या का अर्थ है सम्यक् ज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान और अविद्या का अर्थ है मिथ्या ज्ञान अर्थात् अयथार्थ ज्ञान। योगदर्शन में अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान के चार प्रकार दर्शाए हैं—

१—अनित्य को नित्य जानना। जैसे संसार की वस्तुओं और उनके भोग करनेवाले शरीर को नित्य मानना; अर्थात् यह मानना कि वस्तुएं सदा से हैं और सदा रहेंगी। अविद्या का यह प्रथम प्रकार है।

२—अशुचि अर्थात् अपवित्र कामों को शुचि अर्थात् पवित्र मानना जैसे व्यभिचार, मिथ्या भाषण, चोरी आदि अपवित्र कामों को पवित्र मानना। अविद्या का यह दूसरा प्रकार है।

३—दुःख और दुःख के कारणों को सुख और सुख के कारण जानना। जैसे विषयभोग और विषयभोग के कारण; अर्थात् स्त्री आदि को—जो कि दुःखरूप तथा दुःख के कारण रूप हैं—सुखरूप तथा सुख के कारण रूप मानना। अविद्या का यह तीसरा प्रकार है।

४—अनात्म पदार्थों को आत्म जानना। जैसे देह को आत्मा जानकर इसके सुखों को ही अन्तिम ध्येय मानना। अविद्या का यह चौथा प्रकार है।

इन चार प्रकार के ज्ञानों से विपरीत ज्ञान ही विद्या है। अर्थात् अनित्य पदार्थों में अनित्य ज्ञान और नित्य पदार्थों में नित्य ज्ञान, अपवित्र पदार्थों में अपवित्र ज्ञान और पवित्र पदार्थों में पवित्र ज्ञान, दुःख और दुःख के कारणों में दुःख और दुःख के कारणरूप का ज्ञान तथा वास्तविक सुख और सुख के कारणों में सुख और सुख के कारण-रूप का ज्ञान तथा अनित्य पदार्थों में अनात्मज्ञान और वास्तविक

आत्मा में—आत्मज्ञान; यह विद्या अर्थात् सत्यज्ञान है। इसे ही यथार्थ ज्ञान, तत्त्वज्ञान तथा सत्यज्ञान भी कहते हैं। अर्थात् पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान को तो विद्या कहते हैं और उनके अयथार्थ स्वरूप के ज्ञान को अविद्या। कहीं-कहीं कर्म और उपासना को भी अविद्या कहते हैं। इस सम्बन्ध में अविद्या का अर्थ मिथ्याज्ञान नहीं अपितु इसका अर्थ है, 'विद्या से भिन्न ज्ञान।' कर्म और उपासना विद्या से भिन्न हैं, इसलिए इन दोनों को अविद्या कहते हैं। इसी अर्थ की दृष्टि से यजुर्वेद के एक मंत्र में यह प्रतिपादित किया है कि 'विद्या और अविद्या दोनों का ज्ञान साथ-साथ चाहिए। इसका फल यह होता है कि अविद्या द्वारा मृत्यु का बन्धन छूट जाता है और विद्या द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।' वह मन्त्र निम्नलिखित है। यथा—

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतश्नुते।। यजु० ४०।१४।।

मुक्ति और बंध

मुक्ति का अर्थ है—छूट जाना। प्रश्न उत्पन्न होता है कि किससे छूटना? उत्तर है कि दुःख से। इसलिए मुक्ति का वास्तविक अर्थ हुआ—दुःख से छूट जाना। अधर्म और अज्ञान अर्थात् अविद्या में फंसा हुआ जीव मुक्ति का अधिकारी नहीं होता। दुःखों और दुःखों के कारण अर्थात् शरीर आदि से छूटकर जीव सुख को प्राप्त होता है और उस सुखावस्था में ब्रह्म विचरण करता है।

मुक्ति और बन्ध का कारण

परमेश्वर को आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंस्कार तथा बुरे व्यसनों से अलग रहने, सत्य-भाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्याय तथा धर्म की वृद्धि करने, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने और पढ़ाने तथा धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञानोन्नति करने—इत्यादि शुभ साधनों से मुक्ति होती है, और इनसे विपरीत साधनों अर्थात् ईश्वर की आज्ञा का भंग करने आदि

कामों से बन्धन होता है।

मुक्त जीव की अवस्था, स्वर्ग तथा नरक

जीव जब मुक्त हो जाता है तो उसका स्थूल शरीर नहीं रहता; तो भी वह सुख और आनन्द का अनुभव करता है क्योंकि मुक्ति में भी उसके सत्य संकल्प आदि स्वाभाविक सामर्थ्य और गुण रहते हैं। उस समय केवल भौतिक संग नहीं रहता। इन स्वाभाविक गुणों के कारण जैसा-जैसा वह चाहता है, मुक्ति में भी सुन सकता है, छू सकता है, देख सकता है, स्वाद ले सकता है, सूंघ सकता है, संकल्प-विकल्प कर सकता है, निश्चय कर सकता है तथा स्मरण कर सकता है। मुक्ति में संकल्प[1] ही जीव को शरीर का काम देता है और इस प्रकार वह सब आनन्दों का अनुभव कर सकता है।

मुक्तावस्था में वह जीव अत्यन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्धज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता तथा सृष्टि-विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में—अर्थात् जितने ये लोक प्रत्यक्ष दीखते हैं तथा जो नहीं दीखते, उन सबमें घूमता है। जिस जीवात्मा को जितना ज्ञान अधिक होता है, उसको उतना ही आनन्द भी अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा के निर्मल होने से उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है। इसी सुख-विशेष के भोगने का नाम स्वर्ग तथा सांसारिक सुख को सामान्य स्वर्ग कहते हैं।

मुक्ति से लौटने में वैदिक प्रमाण

वेदों का सिद्धान्त यह है कि जीव मुक्ति के सुख को भोगकर पुनः संसार में आता है, अर्थात् माता-पिता से जन्म धारण करता है। इसी सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र स्मरणीय है। यथा—

---

१. ऋषि दयानन्दजी के मत में सूक्ष्म शरीर भी मुक्ति में रहता है, जो मुक्ति में आनन्द के अनुभव का साधन होता है।

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशयं मातरं च ।।

ऋग्वेद १।२४।१-२।।

इसका अर्थ यह है कि 'हम स्वप्रकाशस्वरूप, अनादि तथा सदा से मुक्त परमात्मा का पवित्र नाम जानें जो कि हमको मुक्ति में आनन्द भोग कराकर, पृथ्वी में पुनः माता-पिता द्वारा जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है।' इससे प्रतीत होता है कि जीवात्मा परमात्मा की व्यवस्था द्वारा मुक्ति में अवश्य लौटता है। कई स्थानों में यद्यपि लिखा है कि जीव को 'अत्यन्त मुक्ति' मिलती है, परन्तु वहां अत्यन्त का यह अर्थ नहीं कि उसका अन्त फिर होता ही नहीं । अपितु अत्यन्त शब्द का अर्थ 'बहुत' भी होता है । अतः अत्यन्त मुक्ति का यह अर्थ भी हो सकता है कि—बहुत काल के लिए मुक्ति, न कि ऐसी मुक्ति जिसका कि पुनः अन्त ही न हो ।

यहां यह नहीं कहना चाहिए कि मुक्ति प्राप्त कर यदि पुनः लौटना ही है तो मुक्ति की प्राप्ति के लिए यत्न ही क्यों किया जाए ? क्योंकि मुक्ति का सुख परान्तकाल[1] तक अथवा छत्तीस हज़ार बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है, उतने समय तक निरन्तर मिलता रहता है । यह काल कोई कम नहीं है कि इतने कालपर्यन्त निरंतर सुख के लिए कोई यत्न न किया जाए । संसार में क्षणिक सुखों के लिए भी जब हम दिन-रात लगे रहते हैं तो इतने बड़े काल के सुख के लिए हमें यत्न क्यों न करना चाहिए ? क्योंकि मुक्ति से पुनः लौटना ही है—यह कथन मूर्खता-मात्र ही है ।

मुक्ति से लौटने में युक्तियां

मुक्ति सान्त है । इसमें निम्नलिखित युक्तियां हैं । यथा—

---

१. इसकी गणना नवम समुल्लास में इस प्रकार की है: ४३, २०, ००० वर्ष=एक चतुर्युगी । २००० चतुर्युगी=एक अहोरात्र । ऐसे ३० अहोरात्र= एक मास । ऐसे १२ मास=एक वर्ष । ऐसे १०० वर्ष=एक परान्तकाल ।

१—जीवात्मा का सामर्थ्य, शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं। अतः इन परिमित साधनों से प्राप्त फल अर्थात् मुक्ति अनन्त कैसे हो सकती है? यदि मान लिया जाए कि अन्तवाले कर्मों का भी अनन्त फल मिल सकता है, तो परमात्मा का न्याय-नियम नष्ट हो जाएगा। अल्प और अल्प सामर्थ्यवाले जीव को अनन्त सुख कैसे मिल सकता है?

२—यदि मुक्ति से लौटकर कोई भी जीवात्मा संसार में पुनः न आए तो शनैः-शनैः संसार का ही उच्छेद हो जाएगा, क्योंकि जीव मुक्ति की ओर चलते चले जाएंगे और लौटेंगे नहीं। इस प्रकार जब जीव समाप्त हो जाएंगे, तो संसार किसके लिए होगा?

यदि कहा जाए कि जितने जीव मुक्ति प्राप्त करते जाते हैं उतने ही जीव परमात्मा और बना लेता है इसलिए संसार के उच्छेद का कोई भय नहीं—तो यह भी युक्तियुक्त नहीं। यदि ऐसे हो तो जीव अनित्य हो जाएंगे। क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश भी अवश्य होता है। इस प्रकार बने जीवों को जब मुक्ति मिलेगी तो मुक्ति प्राप्त कर लेने पर भी उन जीवों का नाश हो ही जाएगा, चूंकि वे बनाए गए हैं। इस मत में भी मुक्ति अनित्य ही रही, नित्य नहीं; क्योंकि जब जीव ही नष्ट हो जाएगा तो उसकी मुक्ति कहां रही?

३—साथ ही यह भी जानना चाहिए कि परमात्मा यदि नये-नये जीव बनाता जाए तो जिस कारण से वह जीवों को बनाएगा वह कभी न कभी समाप्त हो जाएगा। क्योंकि चाहे कितना भी खज़ाना क्यों न हो, जिसमें व्यय है और आय नहीं, वह कभी न कभी अवश्य समाप्त हो जाएगा; और इस कारण रूप खज़ाने के समाप्त हो जाने पर परमात्मा पुनः नये जीव न बना सकेगा। मुक्ति से लौटने पर संसार का विच्छेद पुनः अवश्यम्भावी हो जाएगा।

४—यह भी जानना चाहिए कि सुख का अनुभव सापेक्ष अनुभव है। बिना दुःख के अनुभव के सुख का अनुभव चिरकाल तक नहीं हो सकता। जैसे कटु आदि पदार्थ न हों तो मधुर का और मधुर न हों तो कटु आदि का स्वाद अनुभव नहीं होता। या जैसे कोई मनुष्य यदि

मीठा ही खाता जाए और मीठा ही पीता जाए तो उसे कुछ काल के पश्चात् मीठे में सुख का अनुभव न रहेगा, और यदि वह बीच-बीच में अन्य रसों का भी भोग कर लेता है तो मीठे के स्वाद में पुनः आनन्द का अनुभव करने लगता है, इसी प्रकार मुक्ति के आनन्द का भी यदि कभी विच्छेद न होगा तो यह आनन्द भी आनन्दरूप अनुभूत न हुआ करेगा, और वह मुक्ति ही क्या जिसमें कि आनन्द का अनुभव आनन्द रूप से न हो ?

जन्म-व्यवस्था

जगत् में, प्राणियों में, नाना प्रकार के वैषम्यों के देखने से ज्ञात होता है कि जीव के जन्म अनेक होते हैं। यदि इनका पूर्वजन्म न हो तो वर्तमान जन्म में इतने भारी वैषम्यों का कारण समझ में नहीं पड़ता। कोई सुखी और कोई दुःखी, कोई जन्म से राजसुखों को भोगता और कोई जन्म से ही महादरिद्री, कोई बुद्धिमान् और कोई मूर्ख, कोई शरीर से हृष्ट-पुष्ट और कोई निर्बल—इत्यादि विषमताओं का समाधान बिना पूर्वजन्मों के माने नहीं हो सकता। इसलिए यह मानना चाहिए कि पूर्वजन्म के पाप-पुण्यों के अनुसार तो वर्तमान जन्म होता है और वर्तमान तथा पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार भविष्य में जन्म होते हैं। इस प्रकार जीवात्मा के अनेक जन्म सिद्ध होते हैं।

अनेक जन्मों के होते हुए भी जीवात्मा को पूर्वजन्मों का स्मरण इसलिए नहीं होता चूंकि वह अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं। पूर्वजन्म के स्मरण की बात तो दूर रही, इसी देह में जीव जब गर्भ में था, जब उसका शरीर बना और जन्मा—इन सब बातों का तथा जन्म के पश्चात् भी कई वर्षों तक की बातों का स्मरण जीवात्मा को क्यों नहीं होता ? बड़े होने पर भी पूर्व वर्षों में हुई सब बातों का तथा उनके होने के उस-उस काम का पूरा-पूरा स्मरण नहीं रखता। जब इसी शरीर में ऐसी बात है तो पूर्वजन्म की बातों के सम्बन्ध में शंका करना केवल लड़कपन की बात है तथा जो पूर्वजन्म का स्मरण

नहीं होता इसी से जीव सुखी है, नहीं तो सब जन्मों के दुःखों को स्मरण कर जीव अत्यन्त दुःखी हो जाया करते। जीव अपने कर्मों के अनुसार परमात्मा की व्यवस्था में कभी पुरुष के शरीर में जाता, कभी स्त्री-शरीर में, कभी पशु, कीट और पतंग आदि के शरीर में जाता है। जब पाप बढ़ जाता है और पुण्य न्यून हो जाता है तब मनुष्य का जीव, पशु आदि नीच शरीरों में जाता है। जब धर्म अधिक और अधर्म न्यून होता है तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर धारण करता है, जब पाप और पुण्य बराबर होता है तब साधारण मनुष्य का जन्म होता है। इन साधारण मनुष्यों में भी जो सुख-दुःख की मात्रा का अन्तर दिखाई देता है वह भी उनके कर्मों की उत्तमता, मध्यमता और निकृष्टता की अपेक्षित मात्रा के अनुसार ही है। जब अधिक पाप का फल पशु आदि के शरीर में भोग लिया जाता है तब पाप और पुण्य के तुल्य हो जाने पर वह जीव पुनः मनुष्य-शरीर में आता है।

इसी प्रकार अधिक पुण्य के कारण पुण्यात्मा मनुष्य के शरीर को धारण कर पुण्य के फल भोग लेने के पश्चात् फिर जीव अपने बचे कर्मों के अनुसार मध्यम कोटि या साधारण कोटि के मनुष्यों का जन्म धारण करता है।

इस प्रकार अपने कर्मों के अनुसार, परमात्मा की व्यवस्था में बंधा हुआ जीव, नाना प्रकार की योनियों में तब तक चक्कर काटता रहता है जब तक कि वह विद्या के प्रकाश से प्रकाशित हो मुक्त नहीं होता। मुक्त होने पर मुक्ति में चिरकाल तक आनन्द भोग, वह पुनः इसी ससार-चक्र में आ जाता है, और पुनः यत्न करने पर वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

दशमसमुल्लास

सदाचार, अनाचार भक्ष्य और अभक्ष्य

धर्म या सदाचार

आचार और धर्म का एक ही अर्थ है। धर्मयुक्त कार्यों का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का संग और सत्य के ग्रहण में रुचि आदि उत्तम कर्मों को सदाचार कहते हैं और इससे विपरीत कर्मों को अनाचार। जिस कर्म का सेवन राग और द्वेष से रहित विद्वान् लोग नित्य करें तथा जिसके लिए हृदय अर्थात् आत्मा साक्षी दे कि यह सत्य है वह धर्म और माननीय है। वेद, वेदों के जानने वालों द्वारा रचित धर्मशास्त्र तथा उनके आचार-व्यवहार और आत्मा का सन्तोष—ये धर्म या सदाचार में प्रमाण हैं; अर्थात् इन द्वारा सदाचार का निर्णय करना चाहिए। आत्मा के सन्तोष का अभिप्राय यह है कि जिस कर्म करने में भय, शंका और लज्जा का अनुभव न हो उस कर्म को भी धर्म या सदाचार ही जानना चाहिए। जैसे कि जिस समय कोई व्यक्ति मिथ्या भाषण या चोरी आदि की इच्छा करता है तो उसकी आत्मा में उसी समय भय, शंका और लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है, इसलिए यह धर्म या सदाचार नहीं। धर्म के ज्ञान का अधिकारी वही है जो कि लोभ और काम अर्थात् विषय-सेवन में फंसा हुआ न हो। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों को, जो कि चित्त को हरण कर उसे विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, रोकने का प्रयत्न किया करे। जैसे सारथि घोड़े को रोककर उसे शुद्ध मार्ग पर चलाता है इसी प्रकार इन्द्रियों को अपने वश में रख कर, इन्हें अधर्ममार्ग से हटाकर, धर्ममार्ग में सदा चलाया करे।

स्नान नित्य किया करे। वस्त्रों तथा स्थान को सदा शुद्ध रखे और शुद्ध खान-पान किया करे। इससे चित्त की शुद्धि और आरोग्य प्राप्त होता है। माता-पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा किया करे।

विदेशगमन से सदाचार नष्ट नहीं होता

पौराणिक लोगों ने जो यह माना हुआ है कि विदेशगमन से आचार नष्ट हो जाता है—मिथ्या है; क्योंकि मनुष्य सत्यभाषण आदि कर्मों को जहां कहीं भी करेगा तो वह आचार और धर्म से कभी भ्रष्ट न होगा और जो आर्यावर्त में रहकर भी दुष्टाचार करेगा तो वह धर्मभ्रष्ट और आचारभ्रष्ट ही कहलाएगा। देखो ! आर्यावर्त के हमारे प्राचीन पुरुष देश-विदेश की यात्रा—ज्ञान-चर्चा, विवाह, भ्रमण, व्यापार तथा विजय के लिए—किया करते थे। यथा—

१—महाभारत शांतिपर्व में लिखा है कि किसी समय व्यासजी अपने पुत्र शुक और शिष्यों सहित पाताल अर्थात् अमेरीका में निवास करते थे। शुकजी के पिता ने प्रश्न किया कि आत्मविद्या इतनी ही है या अधिक ? व्यासजी ने जान-बूझकर इस प्रश्न का उत्तर न दिया, क्योंकि इस बात का उपदेश वे एक बार पूर्व भी कर चुके थे। इस सम्बन्ध से दूसरे की साक्षी के लिए उन्होंने शुक से कहा—हे पुत्र ! तू मिथिलापुरी में जा और यही प्रश्न वहां के राजा जनक से कर, वह इसका यथायोग्य उत्तर देगा। पिता का वचन सुन शुकजी अमेरीका से मिथिलापुरी की ओर चले। वह मेरु से हरिवर्ष अर्थात् यूरोप गए, वहां से हूणदेश अर्थात् यहूदियों के देश गए, उसे देख चीन आए, चीन से हिमालय और हिमालय से मिथिलापुरी आए।

२—महाभारत में यह भी लिखा है कि श्रीकृष्ण और अर्जुन अश्वतरी अर्थात् अग्नियान नौका पर बैठ पाताल अर्थात् अमेरीका गए थे और वहां से उद्दालक ऋषि को महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ में लाए थे।

३—महाभारत में यह भी लिखा है कि धृतराष्ट्र का विवाह गान्धार की राजपुत्री से हुआ था। गान्धार को आजकल कन्धार कहते हैं। यह कन्धार अफगानिस्तान में है।

४—इसी प्रकार पाण्डु महाराज की स्त्री माद्री ईरान के राजा की कन्या थी, और अर्जुन ने अमेरीका के राजा की पुत्री उलोपी से विवाह किया था।

५—मनुस्मृति में लिखा है कि समुद्र में आने-जाने वाली नौकाओं पर कर लगाना चाहिए। यह तभी हो सकता जब विदेशियों और उनके माल का आर्यावर्त में और आर्यावर्त के निवासियों और उनके माल का विदेश में आना-जाना सम्भव हो।

६—साथ ही यह स्मरण रखना चाहिए कि महाराज युधिष्ठिर ने जब राजसूय-यज्ञ रचाया था तब उन्होंने अपने यज्ञ में आने का निमन्त्रण भूलोक के सब राजाओं को दिया था और इनके लिए भीम अर्जुन, नकुल तथा सहदेव को चारों दिशाओं में भेजा था।

इनसे प्रतीत होता है कि प्रथम आर्यावर्तदेशीय लोग देश-देशान्तरों तथा द्वीप-द्वीपान्तरों में जाया करते थे। जो उन्हें भी आजकल की तरह छुआछूत का भय या धर्मभ्रष्ट होने का भय होता तो वे देश-विदेश में क्यों जाया करते? यह भय तो मूर्खों के बहकाने और अज्ञान के बढ़ने के कारण हुआ है। देश-देशान्तरों तथा द्वीप-द्वीपान्तरों में जाने से उन-उन देशों तथा द्वीपों के अनेकविध मनुष्यों का संग होता है और उनकी रीति-नीति के देखने का अवसर मिलता है। अपना राज्य और व्यापार बढ़ता है, इससे लोग निर्भय और शूरवीर होने लगते हैं तथा अच्छे व्यवहारों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करने पर तत्पर हो बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। भला देश-देशान्तरों के उत्तम पुरुषों के साथ में छुआछूत और दोष ही क्या है? यह तो ठीक ही है कि विदेश में जाकर उनमें मांसभक्षण और मद्यपान आदि दोषों का ग्रहण नहीं करना चाहिए, परन्तु उनके सद्गुणों के ग्रहण करने में क्या दोष है? जब इनके स्पर्श और देखने को भी मूर्खजन पाप गिनते हैं तो वे इनसे युद्ध कैसे कर सकते हैं? क्योंकि युद्ध में उनका देखना और स्पर्श होना आवश्यक है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि धर्म हमारे आत्मा और कर्त्तव्य के साथ सम्बन्ध रखता है। जब हम अच्छे काम करते हैं तो हमको देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तरों में जाने से कुछ दोष भी नहीं लग सकता। इतना अवश्य चाहिए कि हम वेदोक्त धर्म का निश्चय और पाखण्ड मत का खण्डन करना अवश्य सीख लें जिसमें कोई हमको झूठा निश्चय न करा सके।

कच्चा और पक्का भोजन

पाखण्डी लोग जल में पकाई वस्तु को कच्चा भोजन तथा घी और दूध में पकाई वस्तु को पक्का भोजन कहते हैं। इस प्रकार के कच्चे भोजन को वे सखरी तथा पक्के भोजन को निखरी अर्थात चोखी भी कहते हैं। भोजन के सम्बन्ध में इस प्रकार के कच्चे-पक्के का भेद पाखण्ड-मात्र ही है। घी और दूध में पका भोजन खाने में स्वादु तथा पौष्टिक होता है, इसलिए भोजनभट्टों ने इस प्रकार कच्चे-पक्के का प्रपंच रचा है; नहीं तो अग्नि व काल से पका हुआ पदार्थ पक्का और न पका हुआ कच्चा होता है।

अपने हाथ की रसोई

इसी प्रकार भारतवर्ष में अपने हाथ के बनाए भोजन के खाने का भ्रम फैला हुआ है। आज लोगों को चाहिए कि शूद्र के हाथ बनाया भोजन खाया करें। क्योंकि ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों तथा उनकी स्त्रियों को चाहिए कि वे अपने समय को विद्या पढ़ने, राज्य के पालन तथा पशु-पालन, खेती और व्यापार के कार्यों में लगाएं। देखो! इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब धर्मसूत्र का निम्नलिखित प्रमाण है—

आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः ॥

अर्थात् आर्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री-पुरुष उनका भोजन तैयार किया करें। परन्तु इन शूद्रों को शरीर और वस्त्र आदि की दृष्टि से पवित्र रखना चाहिये। आठवें दिन उनका नख-छेदन और क्षौर कर्म करा देना चाहिए। वे नित्य स्नान कर भोजन बनाया करें। जो स्वच्छ शूद्र के हाथ का भोजन खाने में पाप समझते हैं, उन्हें जानना चाहिए कि जिसने गुड़, चीनी, घी, दूध, शाक, फल और मूल खाए उसने जगत्-भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया। देखो! महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते-पीते थे। महाराज युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में समस्त भूलोक के राजा, ऋषि और महर्षि आए थे और एक ही पाकशाला से भोजन किया करते थे।

अब तो भारतवर्ष में चौके और रसोई के प्रश्न ने भारत के स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर ही चौका लगा दिया है। हां, मद्य-मांसाहारियों के—जिनका कि शरीर मद्य-मांस के परमाणुओं ही से पूरित है—हाथ का भोजन तो न खाना चाहिए, और न चाण्डाल, भंगी तथा चमार आदि के हाथ का भोजन खाना चाहिए।

भक्ष्य और अभक्ष्य दो प्रकार से होता है : एक धर्मशास्त्रोक्त और दूसरा वैद्यकशास्त्रोक्त। धर्मशास्त्रों में लिखा है कि द्विजाः अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्त्री-पुरुषों को विष्ठा, मूत्र आदि की संगति से उत्पन्न शाक, फल और मूल आदि न खाने चाहिए और न किसी को मद्य, गांजा, भंग, अफीम आदि नशीले पदार्थों का और मांस का सेवन करना चाहिए। मांस खाने से मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो जाता है। भक्ष्य और अभक्ष्य के सम्बन्ध में नीचे कतिपय निर्देश लिखे जाते हैं। इन्हें सदा याद रखना चाहिए। यथा—

१—हिंसा, चोरी, विश्वासघात, छल और कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त कर भोग करना अभक्ष्य कोटि का है, तथा अहिंसा और धर्म के अनुसार प्राप्त पदार्थों का भोजन भक्ष्य कोटि का है।

२—जिन पदार्थों से स्वास्थ्य बने, रोग का नाश हो, बल-बुद्धि-पराक्रम की वृद्धि और आयु की वृद्धि हो, उन पदार्थों का सेवन भक्ष्य-कोटि का है।

३—जो पदार्थ अपनी प्रकृति के विरुद्ध हैं, और विकार उत्पन्न करने वाले हैं उनका सेवन अभक्ष्य कोटि का है।

एक पात्र में साथ-साथ भोजन

एक पात्र में साथ-साथ भोजन न करना चाहिए। इसमें दोष है, क्योंकि इससे परस्पर एक-दूसरे के रोग-संक्रमण का भय रहता है। इसलिए किसी का भी जूठा न खाए और न किसी को अपना जूठा देवे गुरु आदि का जूठा भी कभी न खाए। गुरु के उच्छिष्ट भोजन के खाने का यह अभिप्राय है कि प्रथम गुरु को भोजन कराना चाहिए। गुरु के भोजन कर लेने पर पीछे जो कुछ पृथक् शेष अन्न बचे उसे स्वयं खा ले।

परिशिष्ट प्रकरण

परमात्मा के सौ नाम

महर्षि दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में परमात्मा के कई नाम लिखे हैं। उनके लिखने के पश्चात् महर्षि के निम्नलिखित शब्द मिलते हैं। यथा—

'ये सौ नाम परमेश्वर के हैं।'

परन्तु सत्यार्थप्रकाश में दिए नामों की गिनती पूरी सौ नहीं होती। एक दृष्टि से ये नाम सौ से कम होते हैं और दूसरी दृष्टि से अधिक। अथ ओंकारार्थः—से आरम्भ कर (ओ३म् नाम को बीच में न गिनते हुए) विराट् से शिव पर्यन्त नाम संख्या में ९३ नाम होते हैं। इनमें ६४ वां नाम है 'गणेश वा गणपति'। महर्षि ने 'गणेश वा गणपति'—इस प्रकार लिखकर ये दो नाम दिये हैं। यदि दोनों को परमात्मा के नामों में सम्मिलित कर लिया जाए तो नाम-संख्या ९४ हो जाती है, और 'ओ३म्' नाम को साथ मिला लेने पर ९५। पांच नामों की इस प्रकार कमी रह जाती है।

'अथ ओंकारार्थः'—इस लेख से पूर्व जो नाम दिये हैं, जो कि विराट् और शिव इन नामों के मध्य में नहीं आते—संख्या में १० हैं। इस प्रकार कुल नाम ९५+१०=१०५ हो जाते हैं।

यह नामावली निम्नलिखित है। यथा—

['ओंकारार्थः'—इस लेख के पूर्व के नाम[

अ के ३ अर्थ। उ के ३ अर्थ। म के ३ अर्थ=ओ३म् के ९ अर्थ।

१—ख
२—प्राण
३—अक्षर
४—स्वराट्
५—कालाग्नि
६—दिव्य
७—सुपर्ण
८—गरुत्मान्
९—मातरिश्वा
१०—भूमि
११—ओ३म्
१२—विराट्
१३—अग्नि
१४—विश्व
१५—हिरण्यगर्भ
१६—वायु
१७—तैजस्
१८—ईश्वर
१९—आदित्य
२०—प्राज्ञ
२१—मित्र

२२—वरुण
२३—अर्यमा
२४—इन्द्र
२५—बृहस्पति
२६—विष्णु
२७—उरुक्रम
२८—ब्रह्म
२९—सूर्य
३०—परमात्मा
३१—परमेश्वर
३२—सविता
३३—देव
३४—कुबेर
३५—पृथ्वी
३६—जल
३७—आकाश
३८—अन्न
३९—अन्नाद
४०—अत्ता
४१—वायु
४२—रुद्र
४३—नारायण
४४—चन्द्र
४५—मंगल
४६—बुध
४७—शुक्र
४८—शनैश्चर
४९—राहु
५०—केतु
५१—यज्ञ
५२—होता
५३—बन्धु
५४—पिता
५५—पितामह
५६—प्रपितामह
५७—माता
५८—आचार्य
५९—गुरु
६०—अज
६१—ब्रह्मा
६२—सत्य
६३—ज्ञान
६४—अनन्त
६५—अनादि
६६—आनन्द
६७—सत्
६८—चित्
६९—नित्य
७०—शुद्ध
७१—बुद्ध
७२—मुक्त
७३—निराकार
७४—निरंजन
७५—गणेश
७६—गणपति
७७—विश्वेश्वर
७८—कूटस्थ
७९—देवी
८०—शक्ति
८१—श्री
८२—लक्ष्मी
८२—सरस्वती
८४—सर्वशक्तिमान्
८५—न्यायकारी
८६—दयालु
८७—अद्वैत
८८—निर्गुण
८९—सगुण
९०—अन्तर्यामी
९१—धर्मराज
९२—यम
९३—भगवान्
९४—मनु
९५—पुरुष
९६—विश्वम्भर
९७—काल
९८—शेष
९९—आप्त
१००—शंकर
१०१—महादेव
१०२—प्रिय
१०३—स्वयंभू
१०४—कवि
१०५—शिव

यदि एक प्रकार से विचार किया जाए तो परमात्मा के नामों की

सौ संख्या पूरी हो सकती है। यथा—

(क) ओ३म्—इस नाम को गिनती में न गिना जाए, क्योंकि यह परमात्मा का निज या स्वाभाविक नाम है। सौ नामों में केवल वे ही गिने जाएं जो कि परमात्मा के गौणिक या कार्मिक नाम हैं; अर्थात् जो नाम परमात्मा के किसी विशेष गुण या कर्म के सूचक हैं।

(ख) 'गणेश वा गणपति'—इस लेख से यह समझा जाए कि महर्षि का अभिप्राय एक नाम के गिनने का है, दो का नहीं।

(२) चूंकि महर्षि ने प्रथम समुल्लास में लिखा है, "परन्तु इनसे भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं।"—इस लेख द्वारा यह समझा जाए कि महर्षि ने प्रथम समुल्लास में १०० नामों से अतिरिक्त भी कतिपय नाम दृष्टांत रूप में दर्शा दिए हैं, जिससे उनके उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो सके। परन्तु १०० नामों की सूची में किन नामों को सम्मिलित किया जाए और किन्हें न किया जाए, इसका निर्णय महर्षि के लेख पर ही छोड़ दिया जाए अर्थात् जहां महर्षि ने यह लिखा "यह नाम ईश्वर का है।" उसे तो सूची में सम्मिलित कर लिया जाए और नामों के सम्बन्ध में यह समझा जाए कि प्रसंगवश इन नामों की भी व्याख्या महर्षि ने कर दी है, परन्तु उनका अभिप्राय इन्हें १०० नामों की सूची में सम्मिलित करने का नहीं। इस आधार पर 'अक्षर और 'स्वराट्'- ये दो नाम सूची से पृथक् हो जाते हैं।

(घ) चूंकि 'काल' और 'अग्नि' इन दो नामों की व्याख्या महर्षि ने पृथक् रूप से भी की है—और 'कालाग्नि' नाम 'अथ ओंकारार्थः' से प्रारम्भ सूची से पूर्व गिनाया गया है—इसलिए इसे असली सूची में सम्मिलित न किया जाए। क्योंकि 'काल' और 'अग्नि' के अर्थों को देखकर पाठक 'कालाग्नि' का अर्थ स्वयमेव समझ सकता है। इस प्रकार गिनाई गई १०५ की सूची में से उपर्युक्त आधारों पर यदि ५ नाम काट दिए जाएं तो १०० संख्या रह जाती है। वे ५ नाम निम्नलिखित हैं। यथा—

१—ओ३म्　　२—गणेश या गणपति में से एक

३—अक्षर　　४—स्वराट्　　५—कालाग्नि

स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश

नीचे ५१ सिद्धान्त दिए जाते हैं जिनका नाम महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' दिया है। महर्षि इन सिद्धान्तों को मानते थे। महर्षि ने 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' की भूमिका के रूप में लिखा है कि ये ५१ सिद्धान्त वेदादि सत्यशास्त्रों के अनुकूल हैं तथा ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त ऋषि-मुनि इन सिद्धान्तों को मानते आए हैं। इन ५१ सिद्धान्तों के प्रकाशित करने में महर्षि दयानन्द का असली अभिप्राय यह था कि संसार में सत्य का प्रकाश और असत्य का नाश हो। वे कोई नया पंथ या मत इन सिद्धान्तों के आधार पर चलाना नहीं चाहते थे। उन्हें ये सिद्धान्त सत्य प्रतीत हुए, वेदादि सत्यशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित तथा ऋषि-मुनियों द्वारा अनुमोदित प्रतीत हुए इसलिए वे इनका प्रचार करना चाहते थे। ५१ सिद्धान्त महर्षि की नवीन कल्पना के फलस्वरूप नहीं हैं, अपितु चूंकि ये सत्य सिद्धान्त हैं और इनके प्रचार पर संसार का कल्याण निर्भर है, इसीलिए महर्षि इन सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहते थे। ये सिद्धान्त सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश के निचोड़ का रूप हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं। यथा—

१—ईश्वर, जिसके ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम हैं, जो सच्चिदानन्द आदि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्ता, धर्ता, हर्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य, न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसी को परमेश्वर मानता हूं।

२—चारों वेदों, (विद्या-धर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मंत्र भाग) को निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण मानता हूं। वे स्वयं प्रमाणरूप हैं, जिनके कि प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रंथ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य व प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं, वैसे ही चारों वेद हैं; और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अंग, छः

उपांग, चार उपवेद, १२७ वेदों की शाखाएं, जो कि वेदों के व्याख्यान-रूप ब्रह्मा आदि महर्षियों के बनाए ग्रंथ हैं—उनको परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेद-विरुद्ध वचन हैं उनको अप्रमाण मानता हूं।

३—जो पक्षपातरहित, न्यायाचरण, सत्यभाषण आदि ईश्वराज्ञा वेदों के अनुकूल है, उसको धर्म, और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, मिथ्या भाषण आदि ईश्वराज्ञा-भंग वेद-विरुद्ध है, उसको अधर्म मानता हूं।

४—जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञान आदि गुणयुक्त, अल्पज्ञ, नित्य है उसी को जीव मानता हूं।

५—जीव और ईश्वर, स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य-व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं, अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है न होगा, और न कभी एक था, न है, न होगा। इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य-व्यापक, उपास्य-उपासक और पिता-पुत्र आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूं।

६—अनादि पदार्थ तीन हैं : एक ईश्वर, दूसरा जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण, इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं।

७—प्रवाह से अनादि : जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते। परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उनमें अनादि है, और उससे पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी। इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूं।

८—सृष्टि उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्तिपूर्वक मेल होकर, नाना रूप बनती है।

९—सृष्टि का प्रयोजन यही है कि जिसमें ईश्वर की सृष्टि निमित्त गुण, कर्म, स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा—नेत्र किसलिए हैं ? उसने कहा—देखने के लिए। वैसे ही सृष्टि करने में प्रयोजन यह है कि ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है, और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना आदि भी।

१०—सृष्टि सकर्तृ क है। इसका कर्ता पूर्वोक्त ईश्वर है क्योंकि जड़पदार्थ मे अपने-आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि कर्ता होना आवश्यक है।

११—'बंध' सनिमित्तक अर्थात् अविद्या निमित्त से है। जो-जो पाप-कर्म, ईश्वर-भिन्नोपासना, अज्ञान आदि सब दुःख फल करने-वाले हैं इसलिए यह 'बंध' है कि जिसकी इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है।

१२—'मुक्त' अर्थात् सर्वदुःखों से छूटकर बंधरहित सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर मुक्ति के आनन्द को भोगकर पुनः संसार में आना।

१३—मुक्ति के साधन : ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास धर्मा-नुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।

१४—अर्थ वह है कि जो धर्म ही से प्राप्त किया जाए और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको अनर्थ कहते हैं।

१५—काम वह है कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाए।

१६—वर्णाश्रम : गुण-कर्मों की योग्यता से मानता हूं।

१७—राजा : उसी को कहते हैं जो शुभ गुण, कर्म, स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपातरहित न्यायधर्म की सेवा करे, प्रजाओं में पितृ-वत् वर्ते, और उनको पुत्रवत् मानकर उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे।

१८—प्रजा उसको कहते हैं कि जो पवित्र गुण, कर्म, स्वभाव को धारण करके, पक्षपातरहित न्यायधर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई, राजविद्रोहरहित, राजा के साथ पुत्रवत् वर्ते।

१९—जो सदा विचारकर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटाए और न्यायकारियों को बढ़ाए, अपनी आत्मा के समान सबका सुख चाहे, सो न्यायकारी है। उसको मैं भी ठीक कहता हूं।

२०—विद्वानों को देव और अविद्वानों को असुर, पापियों को राक्षस, अनाचारियों को पिशाच मानता हूं।

२१—उन्हीं विद्वानों, माता-पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी, राजा और धर्मात्माजन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रती पति का सत्कार करना देवपूजा कहाती है; इससे विपरीत अदेवपूजा। इनकी मूर्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़मूर्तियों को सर्वदा अपूज्य समझता हूं।

२२—शिक्षा : जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता आदि की बढ़ती होए, अविद्या आदि दोष छूटें, उसको शिक्षा कहते हैं।

२३—पुराण : जो ब्रह्मा आदि के बनाए ऐतरेय आदि ब्राह्मण पुस्तक हैं, उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूं, अन्य भागवत आदि को नहीं।

२४—तीर्थ : जिससे दुःख सागर से पार उतरें, जो सत्यभाषण, विद्या, सत्संग, यम आदि योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्यादान आदि शुभ-कर्म हैं उन्हीं को तीर्थ समझता हूं; इतर जल, स्थान आदि को नहीं।

२५—पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा इसलिए है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते हैं, जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं, इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।

२६—मनुष्य को सबसे यथायोग्य, स्वात्मवत्—सुख-दुःख, हानि-लाभ में वर्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्तना बुरा समझता हूं।

२७—संस्कार उसको कहते हैं कि जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम होए। वह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है, इसको कर्तव्य समझता हूं और दाह के पश्चात् मृतक के लिए कुछ भी न करना चाहिए।

२८ यज्ञ उसे कहते हैं कि जिनमें विद्वानों का सत्कार, यथा-योग्य शिल्प अर्थात् रसायन, पदार्थ-विद्या, उससे उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों का दान, अग्निहोत्रादि, जिनसे वायु, वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना है, उसको उत्तम समझता हूं।

२९—जैसे 'आर्य' श्रेष्ठ और 'दस्यु' दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं, वैसे ही मैं मानता हूं।

३०—'आर्यावर्त' देश इस भूमि का नाम इसलिए है कि इसमें आदिसृष्टि से आर्य लोग निवास करते हैं। परन्तु इसकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी है। इन चारों के बीच में जितना देश है उसको आर्यावर्त कहते हैं, और जो इनमें सदा रहते हैं, उनको भी आर्य कहते हैं।

३१—जो सांगोपांग वेद-विद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग कराए, वह 'आचार्य' कहाता है।

३२—'शिष्य' उसको कहते हैं कि जो सत्यशिक्षा और सत्यविद्या को ग्रहण करने के योग्य धर्मात्मा, विद्या-ग्रहण की इच्छावाला और आचार्य का प्रिय करनेवाला है।

३३—गुरु : माता-पिता और जो सत्य को ग्रहण कराए और असत्य को छुड़ाए, वह गुरु कहाता है।

३४—पुरोहित : जो यजमान का हितकारी, सत्योपदेष्टा होए।

३५—उपाध्याय : जो वेदों के एक देश या अंगों को पढ़ाता है।

३६—शिष्टाचार : जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्या ग्रहण करे, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना है, यही शिष्टाचार है और जो इनको करता है वह शिष्ट कहलाता है।

३७—प्रत्यक्ष आदि आठ 'प्रमाणों' को भी मानता हूं।

३८—आप्त : जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सबके सुख के लिए प्रयत्न करता है, उसी को आप्त कहता हूं।

३९—परीक्षा पांच प्रकार की है। इसमें से प्रथम ईश्वर, उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेद-विद्या। दूसरी प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाण। तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पांचवीं अपनी आत्मा की पवित्रता, विद्या। इन पांच परीक्षाओं से सत्यासत्य का निर्णय करके, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना चाहिए।

४०—परोपकार : जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़े, उसके करने को परोपकार कहता हूं।

४१—स्वतन्त्र, परतन्त्र : जीव अपने कर्मों में स्वतन्त्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र है, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र है।

४२—'स्वर्ग' नाम सुखविशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

४३—'नरक' नाम दुःखविशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

४४—जन्म : शरीर धारण कर प्रकट होना। सो पूर्व, पर और मध्यभेद से तीन प्रकार का मानता हूं।

४५—शरीर के संयोग का नाम 'जन्म' और वियोग-मात्र को 'मृत्यु' कहते हैं।

४६—विवाह : जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से, अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना है, वह विवाह कहलाता है।

४७—नियोग : विवाह के पश्चात्, पति के मर जाने आदि में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री व आपत्काल में पुरुष का स्व-वर्ण व अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री व पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना।

४८—स्तुति : गुण-कीर्तन, श्रवण और ज्ञान होना। इसका फल प्रीति आदि होते हैं।

४९—प्रार्थना : अपने सामर्थ्य के अनुसार, ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं, उनके लिए ईश्वर से याचना करना और इसका फल निरभिमान आदि होता है।

५०—उपासना : जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना। ईश्वर को सर्वव्यापक अपने को व्याप्य जानकर ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना—उपासना कहाती है। इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है।

५१—सगुणनिर्गुणस्तुतिप्रार्थनोपासना : जो-जो गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त, और जो-जो नहीं हैं उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना, सगुणनिर्गुणस्तुति, शुभ गुणों के ग्रहण की इच्छा और दोष छुड़ाने के लिए परमात्मा का सहाय चाहना सगुणनिर्गुणप्रार्थना; और सब गुणों सहित, सब दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर, और आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना सगुण निर्गुणोपासना होती है।

ये सिद्धान्त हैं। इन्हें महर्षि के 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' भी कहते हैं। इसकी विशेष व्याख्या सत्यार्थप्रकाश के भिन्न-भिन्न प्रकरणों में प्रसंगवश की गई है। साथ ही महर्षिकृत 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' आदि ग्रन्थों में भी मिलती है। महर्षि इन ५१ सिद्धान्तों का सर्वत्र प्रचार करना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि झगड़े और फसाद के जो कारण बने हुए हैं उनका नाश हो और एक स्वच्छ वैदिकधर्म का उज्ज्वल प्रकाश फैल जाए—इति।